अतीत का अनावरण

अतीत का अनावरण

आचार्य तुलसी
मुनि नथमल

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–२८७
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 287
ATEET KA ANAVARAN
(Essays)
AACHARYA TULSI : MUNI NATHAMAL
Bharatiya Jnanpith
Publication
First Edition 1969
Price Rs. 5.00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५
विक्रय कार्यालय
३६२०।२१, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६९
मूल्य ५.००

सन्मति मुद्रणालय,
वाराणसी–५

अनुक्रम

अतीत
का
अनावरण

●

श्रमणसंस्कृति का प्राग्-वैदिक अस्तित्व

आर्य लोग हिन्दुस्तान में आये उस से पहले यहाँ एक ऊँची सभ्यता, संस्कृति और धर्म-चेतना विद्यमान थी। वह वैदिक परम्परा नहीं थी। यह मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई से प्राप्त ध्वंसावशेषों से प्रमाणित हो चुका है। पुरातत्त्व-विदों के अनुसार जो अवशेष मिले हैं, उन से वैदिक धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। उन का सम्बन्ध श्रमण-संस्कृति से है। अतः यह प्रमाणित होता है कि आर्यों के आगमन से पूर्व यहाँ श्रमण-संस्कृति विकसित अवस्था में थी।

इस तथ्य की सम्पुष्टि के लिए हम साहित्य और पुरातत्त्व दोनों का अवलम्बन लेंगे। भारतीय साहित्य में वेद बहुत प्राचीन माने जाते हैं। उन में तथा उन के पार्श्ववर्ती ग्रन्थों में आये हुए कुछ शब्द—वातरशन मुनि, वातरशन-श्रमण, केशी, व्रात्य और अर्हन्—श्रमण-संस्कृति की प्राग्-वैदिकता के प्रमाण हैं।

वातरशन-मुनि—वातरशन-श्रमण

ऋग्वेद में वातरशन मुनि का प्रयोग मिलता है[1]—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

इसी प्रकरण में 'मौनेय' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। वातरशन-मुनि अपनी 'मौनेय' की अनुभूति में कहता है—मुनिभाव से प्रमुदित हो कर हम वायु में स्थित हो गये हैं, ओ मर्त्यो! तुम हमारा शरीर मात्र देखते हो[2]।

---

१. ऋग्वेद म० १०, अ० ११, सू० १३६।२।

२. वही, म० १०, अ० ११, सूत्र १३६।३।
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्। शरीरेऽस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ॥

तैत्तिरीय आरण्यक में 'श्रमणों' को 'वातरशन ऋषि' और 'ऊर्ध्वमन्थी' कहा गया है—

"वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः[1]।"

ये श्रमण भगवान् ऋषभ के ही शिष्य हैं। श्रीमद्भागवत में ऋषभ को जिन श्रमणों के धर्म का प्रवर्तक बताया है, उन के लिए ये ही विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं—

धर्मान्दर्शयितु कामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवाततार।

अर्थात् भगवान् ऋषभ श्रमणों, ऋषियों तथा ब्रह्मचारियों (ऊर्ध्वमन्थिनः) का धर्म प्रकट करने के लिए शुक्ल सत्त्वमय विग्रह से प्रकट हुए।

वैदिक साहित्य में मुनि का उल्लेख विरल है, किन्तु इस का कारण यह नहीं कि उस समय मुनि नहीं थे, वे थे, अपने ध्यान मे मग्न थे, पुरोहितों के भौतिक जगत् से परे वे अपने चिन्तन में लीन रहते थे और पुत्रोत्पादन या दक्षिणा-ग्रहण के कार्यों से भी दूर रहते थे।[2] मुनि के इस विवरण से स्पष्ट है कि वे किसी वैदिकेतर परम्परा के थे। वैदिक जगत् मे यज्ञ-संस्था ही सब कुछ थी। वहाँ संन्यास या मुनिपद को स्थान नहीं मिला था।

वातरशन शब्द भी श्रमणों का सूचक है। तैत्तिरीय आरण्यक और श्रीमद्-भागवत द्वारा इस तथ्य की बराबर पुष्टि होती रही है। श्रमण का उल्लेख बृहदा-रण्यक उपनिषद्[3] और वाल्मीकि रामायण[4] आदि में भी होता रहा है।

केशी

ऋग्वेद के जिस प्रकरण में वातरशन-मुनि का उल्लेख है उसी में केशी की स्तुति की गयी है[5]—

---

१. तैत्तिरीयारण्यक २।७।१, पृष्ठ १३७
२. वैदिक कोश, पृष्ठ ३८३
३. ४।३।२२, पृष्ठ ९७६
४. बालकाण्ड सर्ग १४, श्लोक २२
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणा भुञ्जते तथा।
५. ऋग्वेद म० १०, अ० ११, सूक्त १३६-१

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी ।
केशी विश्वं स्वदृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥

यह केशी भगवान् ऋषभ का वाचक है। वातरशन के सन्दर्भ में यह कल्पना करना कोई साहस का काम नहीं है। भगवान् ऋषभ के केशी होने की परम्परा जैन-साहित्य में आज भी उपलब्ध है।

भगवान् ऋषभ जब मुनि बने तब उन्होंने चार मुष्टि केश-लोच किया, जब कि सामान्य परम्परा पाँच मुष्टि केश-लोच करने की है। भगवान् केश-लोच कर रहे थे, दोनों पार्श्व-भागों का केश-लोच करना बाकी था तब देवराज शकेन्द्र ने भगवान् से प्रार्थना की—"इतनी रमणीय केश-राशि को इसी प्रकार रहने दें।" भगवान् ने उस की बात मानी और उसे वैसे ही रहने दिया। इसी लिए भगवान् ऋषभ की मूर्ति के कन्धों पर आज भी केशों की वल्लरिका की जाती है। घुँघराले और कन्धों तक लटकते हुए बाल उन की प्रतिमा के प्रतीक हैं।[1]

भगवान् ऋषभ की प्रतिमाओं को जटा-शेखर युक्त कहा गया है।[2] केशी वृषभ प्राग्-वैदिक थे और श्रमण-संस्कृति के आदि स्रोत—यह इस केशी-स्तुति से स्पष्ट है।

ऋग्वेद १०।९।१०२।६ में केशी और वृषभ का एक साथ उल्लेख मिलता

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सू० ३०
चउहि अट्ठाहिं लोअं करेइ। वृत्ति-तीर्थकृतां पंचमुष्टिलोचसम्भवेऽपि अस्य भगवतश्चतुर्मुष्टि-कलोचगोचरः श्रीहेमाचार्यकृत ऋषभचरित्राद्यभिप्रायोऽयं प्रथममेकया मुष्टया स्मश्रुकूर्चयो-र्लोचे तिसृभिश्च शिरोलोचे कृते एकां मुष्टिमवशिष्यमाणां पवनान्दोलितां कनकावदातयो ! प्रभुस्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं मरकतोपमानमाबिभ्रतीं परमरमणीयां वीक्ष्य प्रमोदमानेन शक्रेण भगवन् ! मय्यनुग्रहं विधाय घ्रियतामिमामित्थमेवेति विज्ञप्ते भगवतापि सा तथैव रक्षितेति, न ह्येकान्तभक्तानां याच्ञामनुग्रहीतार खण्डयन्ती' ति, अत एवेदानीमपि श्री-ऋषभमूर्त्तौ स्कन्धोपरि वल्लरिकाः क्रियन्ते।

२. (क) तिलोयपण्णत्ति ४।२३०
आदि जिणप्पडिमाओ, ताओ जडमउड सेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा, अभिसित्तुमणा व सा पडदि ॥
(ख) तिलोयसार ५९०
सिरिगिहसीसट्ठि भंबुजकण्णियसिंहासणं जडामउलं।
जिणमभिसित्तुमणा वा, ओदिण्णामत्थए गंगा ॥

है ।[1] मुद्गल ऋषि की गाएं (इन्द्रियाँ) चुरायी जा रही थीं, तब ऋषि के सारथी केशी वृषभ के वचन से वे अपने स्थान पर लौट आयीं अर्थात् ऋषभ के उपदेश से वे अन्तर्मुखी हो गयीं ।

व्रात्य

अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड का सम्बन्ध किसी ब्राह्मणेतर परम्परा से है। आचार्य सायण ने व्रात्य को विद्वत्तम, महाधिकार, पुण्यशील, विश्वसम्मान्य और ब्राह्मण-विशिष्ट कहा है ।[2] तथा व्रात्य-काण्ड की भूमिका के प्रसंग में उन्होंने लिखा है—इस में व्रात्य की स्तुति की गयी है। उपनयनादि से हीन मनुष्य व्रात्य कहलाता है। ऐसे मनुष्य को लोग वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी और सामान्यतः पतित मानते हैं। परन्तु यदि कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो तो ब्राह्मण उस से भले ही द्वेष करे परन्तु वह सर्व पूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा ।[3]

व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को प्रेरणा दी थी ।[4]

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने व्रात्य का अर्थ परमात्मा किया है ।[5] श्री बलदेव उपाध्याय भी इसी मत का अनुसरण करते हैं ।[6] किन्तु समूचे व्रात्यकाण्ड का परिशीलन करने पर यह अर्थ संगत नहीं लगता ।

व्रात्यकाण्ड के कुछ सूत्र

वह संवत्सर तक खड़ा रहा। उस से देवों ने पूछा—व्रात्य तू क्यों खड़ा है ।[7]

---

१. ऋग्वेद संहिता १०।६।१०२।६
   ककर्दवे वृषभो युक्त आसीदवावचीत्सारथिरस्य केशी। दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम् ।

२. अथर्ववेद १५।१।१।१, सायण भाष्य—
   कञ्चिद् विद्वत्तमं, महाधिकारं, पुण्यशीलं विश्वसंमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणविद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् ।

३. अथर्ववेद १५।१।१।१

४. अथर्ववेद १५।१।१।१
   व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत ॥

५. अथर्ववेदीयं व्रात्यकाण्ड, पृष्ठ १

६. वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृष्ठ २२६

७. अथर्ववेद १५।१।३।१

वह अनावृत्ता दिशा में चला। इस से (उस ने) सोचा न लौटूंगा।[1] अर्थात् जिस दिशा में चलने वाले का आवर्तन–लौटना, नहीं होता वह अनावृत्ता दिशा है। इसी लिए उस ने सोचा कि मैं अब न लौटूंगा। मुक्त पुरुष का ही प्रत्यावर्तन नहीं होता।[2]

तब जिस राजा के घरों पर ऐसा विद्वान् व्रात्य अतिथि (हो कर) आये। (इस को) (वह राजा) इस (विद्वान् के आगमन) को अपने लिए कल्याणकारी माने। ऐसा (करने से) क्षेत्र तथा राष्ट्र के प्रति अपराध नहीं करता।[3]"

"यदि किसी के घर ऐसा विद्वान् व्रात्य अतिथि आ जाय (तो) स्वयं उस के सामने जा कर कहे, व्रात्य, आप कहाँ रहते हैं? व्रात्य (यह) जल (ग्रहण कीजिए), व्रात्य (मेरे घर के लोग आप को भोजनादि से) तृप्त करें। जैसा आप को प्रिय हो, हम लोग वैसा ही करें।[4]"

"(व्रात्य से) यह जो प्रश्न करता है कि व्रात्य आप कहाँ रहते हैं इस (प्रश्न) से (ही) वह देवयान मार्ग को (जिस से पुण्यात्मा स्वर्ग को जाते हैं) अपने वश में कर लेता है।[5]"

"इस से जो यह कहता है व्रात्य यह जल ग्रहण कीजिए इस से अप (जल या कर्म) अपने वश में कर लेता है।"

"यह कहने से कि व्रात्य (मेरे घर के लोग आप को भोजनादि से) तृप्त

---

१. अथर्ववेद १५।१।६।१६
सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत।

२. अथर्ववेदीय व्रात्यकाण्ड, पृष्ठ ३६

३. अथर्ववेद १५।२।३।१,२
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्। श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते।

४. अथर्ववेद १५।२।४।१,२
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो तिथिर्गृहानागच्छेत्। स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वा वात्सीः व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति।

५. अथर्ववेद १५।२।४।३
यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानवरुन्द्धे।

करें, अपने-आप को चिरस्थायी (अर्थात् दीर्घ-जीवी) बना लेता है ।[1]"

"जिस के घर में विद्वान् व्रात्य एक रात अतिथि रहे,
वह पृथ्वी में जितने पुण्यलोक हैं उन सब को वश में कर लेता है ।"

"जिस के घर में विद्वान् व्रात्य दूसरी रात अतिथि रहे,
वह अन्तरिक्ष में जो पुण्यलोक है उन सब को वश में कर लेता है ।"

"जिस के घर में विद्वान् व्रात्य तीसरी रात अतिथि रहे,
जो द्युलोक में पुण्यलोक है उन सब को वश में कर लेता है ।"

"जिस के घर में विद्वान् व्रात्य चौथी रात अतिथि रहे,
वह पुण्यलोकों से श्रेष्ठ पुण्यलोकों को वश में कर लेता है ।"

"जिस के घर में विद्वान् व्रात्य अपरिमित (बहुधा) अतिथि रहे,
वह अपरिमित पुण्यलोकों को अपने वश में कर लेता है ।[2]"

इन सूत्रों में जो प्रतिपादित है, उस का सम्बन्ध परमात्मा से नहीं किन्तु किसी देहधारी व्यक्ति से है ।

व्रात्यकाण्ड में प्रतिपादित विषय की भगवान् ऋषभ के जीवन व्रत से तुलना होती है । वे दीक्षित होने के बाद एक वर्ष तक तपस्या में स्थिर रहे थे । एक वर्ष

---

१. अथर्ववेद १५।२।४।४,५
यदेनमाह व्रात्योद कमित्थप एव तेनावरुन्द्धे ।
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ।

२. अथर्ववेद १५।२।६।१-१०
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ।
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनावरुन्द्धे ।।
ये तदस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ।
येऽन्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनावरुन्द्धे ।
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ।
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनावरुन्द्धे ।
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति ।
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनावरुन्द्धे ।
तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो परिमिता रात्रिरतिथिर्गृहे वसति ।
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनावरुन्द्धे ।

तक भोजन न करने पर भी शरीर में पुष्टि और दीप्ति को धारण कर रहे थे।[1]

मुनियों की चर्या को धारण करने वाले भगवान् जिस-जिस ओर कदम रखते थे अर्थात् जहाँ-जहाँ जाते थे, वहीं-वहीं के लोग प्रसन्न हो कर और बड़े सम्भ्रम के साथ आ कर उन्हें प्रणाम करते थे। उन में से कितने ही लोग कहने लगते थे कि हे देव ! प्रसन्न होइए और कहिए कि क्या काम है ?[2]

कितने ही लोग भगवान् से ऐसी प्रार्थना करते थे कि 'भगवन् ! हम पर प्रसन्न होइए। हमें अनुगृहीत कीजिए।'[3]

भगवान् ऋषभ अन्त में अपुनरावृत्ति स्थान को प्राप्त हुए जहाँ जाने के पश्चात् कोई लौट कर नहीं आता।[4]

यह बहुत सम्भव है कि व्रात्य-काण्ड में भगवान् ऋषभ का जीवन रूपक की भाषा में चित्रित है। ऋषभ के प्रति कुछ वैदिक ऋषि श्रद्धावान् थे और वे उन्हें देवाधिदेव के रूप में मान्य करते थे।

अर्हन्

ऋग्वेद मे भगवान् ऋषभ के अनेक उल्लेख हैं।[5] किन्तु उन का अर्थ परिवर्तन कर देने के कारण वे विवादास्पद हो जाते हैं। अर्हन् शब्द श्रमण संस्कृति का

---

१. महापुराण २०।६५,
हायनाऽनशनेऽप्यङ्गे पुष्टिं दीप्तिञ्च बिभ्रते।

२. महापुराण २०।१४,१५
यतो यतः पदं धत्ते मौनीं चर्यामिमं संश्रितः।
ततस्ततो जनाः प्रीताः प्रणमन्त्येत्य सम्भ्रमात् ॥
प्रसीद देव ! किं कृत्यमिति केचिज्जगुर्गिरम्।

३. महापुराण २०।२२

४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति पत्र १५८
समुज्जाए……तत्र सम्यग्-अपुनरावृत्त्या ऊर्ध्वं लोकाग्रलक्षणं यातः प्राप्त.।

५. ऋग्वेद संहिता

मण्डल	१	अध्याय	२४	सूत्र	१६०	मन्त्र	१
,,	२	,,	४	,,	३३	,,	१५
,,	५	,,	२	,,	२८	,,	४
,,	६	,,	१	,,	१	,,	८
,,	६	,,	२	,,	१९	,,	११
,,	१०	,,	१२	,,	१६	,,	१ आदि-आदि

बहुत प्रिय शब्द है। श्रमण लोग अपने तीर्थंकरों या वीतराग आत्माओं को अर्हन् कहते हैं। जैन और बौद्ध साहित्य में अर्हन् शब्द का प्रयोग हजारों बार हुआ है। जैन लोग आर्हत नाम से भी प्रसिद्ध रहे हैं। ऋग्वेद में अर्हन् शब्द का प्रयोग श्रमण नेता के लिए ही हुआ है—

अर्हन् बिभर्षि सायकानि: धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्भ्वं न वा ओजीयां रुद्र त्वदस्ति ॥[1]

आचार्य विनोबा भावे ने इसी मन्त्र के एक वाक्य—अर्हन्निदं दयसे विश्वमम्भ्वं—को उद्धृत करते हुए लिखा है—हे अर्हन्! तुम जिस तुच्छ दुनिया पर दया करते हो—इस में अर्हन् और दया दोनों जैनों के प्यारे शब्द हैं। मेरी तो मान्यता है कि जितना हिन्दू धर्म प्राचीन है शायद उतना ही जैन-धर्म भी प्राचीन है।[2]

अर्हन् शब्द का प्रयोग वैदिक विद्वान् भी श्रमणों के लिए करते रहे हैं। हनुमन्नाटक में लिखा है—

"अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता:"

ऋग्वेद के अर्हन् शब्द से यह प्रमाणित होता है कि श्रमण संस्कृति ऋग्वैदिक काल से पूर्ववर्ती है।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने व्रात्यों को अर्हतों का अनुयायी माना है—वैदिक से भिन्न मार्ग बुद्ध और महावीर से पहले भी भारतवर्ष में थे। अर्हत् लोग बुद्ध से पहले भी थे और उन के चैत्य भी बुद्ध से पहले थे। उन अर्हतों और चैत्यों के अनुयायी 'व्रात्य' कहलाते थे, जिन का उल्लेख अथर्ववेद में भी है।[3]

असुर और आर्हत्

वैदिक आर्यों के आगमन से पूर्व भारत वर्ष में दो प्रकार की जातियाँ थीं—सभ्य और असभ्य। सभ्य जाति के लोग गावों और नगरों में रहते थे। असभ्य जाति के लोग जंगलों में। असुर, नाग, द्रविड़—ये सभ्य जातियाँ थीं। दास-

१. ऋग्वेद संहिता २. अध्याय ४. सू० ३३, मं० १०
२. हरिजन सेवक, ३० मई, १९४८
३. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, प्रथम जिल्द, पृष्ठ ४०२

जाति असभ्य थी। असुर जाति की सभ्यता और संस्कृति बहुत उन्नत थी। उन के पराक्रम से वैदिक आर्यों को प्रारम्भ में बहुत क्षति उठानी पड़ी।

असुर लोग आर्हत् धर्म के उपासक थे। बहुत आश्चर्य की बात है कि जैन साहित्य में इस की स्पष्ट चर्चा नहीं मिलती। किन्तु पुराण और महाभारत में इस प्राचीन परम्परा के उल्लेख सुरक्षित हैं।

विष्णु[1] पुराण, पद्मपुराण[2], मत्स्यपुराण[3], और देवी[4] भागवत में असुरों को आर्हत् या जैन धर्म का अनुयायी बनने का उल्लेख है।

विष्णुपुराण के अनुसार माया मोह ने असुरों को आर्हत् धर्म में दीक्षित किया।[5] त्रयी (ऋग्, यजुः और साम) में उन का विश्वास नहीं रहा।[6] उन का यज्ञ और पशु बलि से भी विश्वास उठ गया।[7] वे अहिंसा-धर्म में विश्वास करने लगे।[8] उन्होंने श्राद्ध आदि कर्म-काण्डों का भी विरोध करना प्रारम्भ कर दिया।[9]

विष्णुपुराण का मायामोह किसी अर्हत् का शिष्य है। उस ने असुरों को अर्हत् के धर्म में दीक्षित किया, यह भी इस से स्पष्ट है। असुर जिन सिद्धान्तों में विश्वास करने लगे, वे अर्हत् धर्म के सिद्धान्त थे।

माया मोह ने अनेकान्तवाद का भी निरूपण किया। उस ने असुरों से कहा—यह धर्मयुक्त है और यह धर्म विरुद्ध है, यह सत् है और यह असत् है, यह मुक्ति-कारक है और इस से मुक्ति नहीं होती, यह आत्यन्तिक परमार्थ है और यह

---

१. विष्णुपुराण ३।१७।१८
२. पद्मपुराण, सृष्टि खण्ड, अध्याय १३, श्लोक १७०-४१३
३ मत्स्यपुराण, अध्याय १४, श्लोक ४३-४६
४. देवी भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय १३, श्लोक ५४-५७
५. विष्णुपुराण ३।१८।१२
अर्हतैतं महाधर्मं मायामोहेन ते यतः।
प्रोक्तास्तमाश्रिता धर्ममार्हतास्तेन तेऽभवन्॥
६. विष्णुपुराण ३।१८।१३,१४
७. वही ३।१८।२७
८. वही ३।१८।२५
९. वही ३।१८।२८-२९

परमार्थ नहीं है, यह कर्त्तव्य है और यह अकर्त्तव्य है, यह ऐसा नहीं है और यह स्पष्ट ऐसा ही है, यह दिगम्बरों का धर्म है और यह साम्बरों का धर्म है।[1]

पुराणकार ने इस कथानक में अर्हत् के धर्म की न्यूनता दिखलाने का यत्न किया है, फिर भी इस रूपक में से जैन धर्म की प्राचीनता, उस के अहिंसा और अनेकान्तवादी सिद्धान्त और असुरों की जैनधर्मपरायणता—ये फलित निकल आते हैं।

विष्णुपुराण में असुरों को वैदिक रंग में रंगने का प्रयत्न किया गया है किन्तु ऋग्वेद द्वारा यह स्वीकृत नहीं है। वहाँ उन्हें वैदिक आर्यों का शत्रु कहा गया है[2]।

असुर और वैदिक-आर्य

वेदों और पुराणों में वर्णित देव-दानव-युद्ध वैदिक आर्यों और आर्य-पूर्व जातियों के प्रतीक का युद्ध है। वैदिक-आर्यों के आगमन के साथ-साथ असुरों से उन का संघर्ष छिड़ा और वह तीन सौ वर्षों तक चलता रहा[3]। आर्यों का इन्द्र पहले बहुत शक्तिशाली नहीं था[4] इस लिए प्रारम्भ में आर्य लोग पराजित हुए[5]।

भारतवर्ष में असुर राज्यों की एक लम्बी परम्परा रही है।[6] वे सभी व्रतपरायण, बहुश्रुत और लोकेश्वर थे। असुर प्रथम आक्रमण में ही वैदिक-आर्यों से पराजित नहीं हुए थे। जब तक वे सदाचार-परायण और संगठित थे तब तक आर्य लोग उन्हें पराजित नहीं कर सके[7]। किन्तु जब असुरों के आचरण में

---

१. विष्णुपुराण ३।१८।८–११
२. ऋग्वेद संहिता १।२३।१७४।२-२
३. मत्स्यपुराण अध्याय २४, श्लोक ३७
अथ देवासुरं युद्धमभूद् वर्षशतत्रयम् ॥
४. महाभारत शान्ति पर्व, अध्याय २२७, श्लोक २२
अशक्तः पूर्वमासीस्त्वं कथञ्चिच्छक्ततां गतः।
कस्त्वदन्य इमां वाचं सुक्रूरां वक्तुमर्हति ॥
५. विष्णुपुराण ३।१७।६
देवासुरमभूद्‌युद्धं दिव्यमब्दशतं पुरा।
तस्मिन् पराजिता देवा दैत्यै र्ह्लादपुरोगमैः ॥
६. महाभारत शान्तिपर्व, २२७। ४९-५४
७. महाभारत, शान्तिपर्व, २२७।५९-६०

शिथिलता आयी तब आर्यों ने उन्हें परास्त कर डाला। इस तथ्य का चित्रण इन्द्र और लक्ष्मी के संवाद में हुआ है। इन्द्र के पूछने पर लक्ष्मी ने कहा—'सत्य और धर्म से बाँध कर पहले मैं असुरों के यहाँ रहती थी। अब उन्हें धर्म के विपरीत देख कर मैं ने तुम्हारे यहाँ रहना पसन्द किया है। मैं उत्तमगुणों वाले दानवों के पास सृष्टि काल से ले कर अब तक अनेक युगों से रहती आयी हूँ। किन्तु अब वे काम-क्रोध के वशीभूत हो गये हैं, उन में धर्म नहीं रह गया है इस लिए मैं ने उन का साथ छोड़ दिया[1]। इस से स्पष्ट है कि दानवों की राज्य-सत्ता सुदीर्घ-काल तक यहाँ रही और उस के पश्चात् वह इन्द्र के नेतृत्व में संगठित आर्यों के हाथ में चली गयी।

वैदिक-आर्यों का प्रभुत्व उत्तर भारत पर अधिक हुआ था। दक्षिण-भारत में उन का प्रवेश बहुत विलम्ब से हुआ था विशेष प्रभावशाली रूप में नहीं हुआ। जब दैत्यराज बलि की राज्यश्री ने इन्द्र का वरण किया तब इन्द्र ने दैत्यराज बलि से कहा—"ब्रह्मा ने मुझे आज्ञा दी है कि मैं तुम्हारा वध न करूँ। इसी लिए मैं तुम्हारे सिर पर वज्र नहीं छोड़ रहा हूँ। दैत्यराज! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो चले जाओ।' इन्द्र की यह बात सुन दैत्यराज बलि दक्षिण दिशा में चले गये और इन्द्र उत्तर दिशा में।[2]

पद्मपुराण में भी बताया है कि असुर लोग जैन-धर्म को स्वीकार करने के बाद नर्मदा के तट पर निवास करने लगे।[3] इस से स्पष्ट है कि अर्हत् का धर्म उत्तर भारत में आर्यों का प्रभुत्व बढ़ जाने के बाद दक्षिण भारत में विशेष बल-शाली बन गया। असुरों का उत्तर से दक्षिण की ओर जाना भी उन की तथा द्रविड़ों की सभ्यता और संस्कृति की समानता का सूचक है।

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २२८।४९, ५०

२. वही, अध्याय २२५।३७
एवमुक्तस्तु दैत्येन्द्रो, बलिरिन्द्रेण भारत।
जगाम दक्षिणामाशामुदीचीं तु पुरन्दरः॥

३. पद्मपुराण १३।४१२
नर्मदा सरितं प्राप्य स्थिताः दानवसत्तमाः।

असुर और आत्म-विद्या

आर्य-पूर्व असुर राज्यों की पराजय होने के बाद आर्य-नेता इन्द्र ने दैत्यराज बलि, नमुचि और प्रह्लाद से कहा—तुम्हारा राज्य छीन लिया गया है, तुम शत्रु के हाथ में पड़ गये हो फिर भी तुम्हारी आकृति पर कोई शोक की रेखा नहीं, यह कैसे ?[1]

इस प्रश्न के उत्तर में असुर राजाओं ने जो कहा, वह उन की आत्मविद्या का ही फलित था। विरोचन कुमार बलि ने इन्द्र को इस प्रकार फटकारा कि उस का गर्व चूर हो गया। बलि ने इन्द्र से कहा—"देवराज ! तुम्हारी मूर्खता मेरे लिए आश्चर्यजनक है। इस समय तुम समृद्धिशाली हो और मेरी समृद्धि छिन्न हो गयी है। ऐसी अवस्था में तुम मेरे सामने अपनी प्रशंसा के गीत गाना चाहते हो यह तुम्हारे कुल और यश के अनुरूप नहीं है।" नमुचि और बलि राज्यहीन होने पर भी जिस प्रकार शोकमुक्त रहे, वह उन की अध्यात्म-विद्या का ही फल था। इन्द्र उन के धैर्य और अशोक भाव को देख कर आश्चर्य-चकित रह गया।[2]

महाभारत में असुरों पर वैदिक विचारों की छाप लगायी गयी है, फिर भी उन की अशोक शान्त व समभावी वृत्ति से जो आत्म-विद्या की झलक मिलती है, वह निश्चित रूप से उन्हें श्रमण धर्मानुयायी सिद्ध करती है।

सांस्कृतिक-विरोध

असुरों और वैदिक-आर्यों का विरोध केवल भौगौलिक राजनीतिक ही नहीं

---

१. (क) महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २२७।१५
शत्रुभिर्वशमानीतो हीनः स्थानादनुत्तमात् ।
वैरोचन ! किमाश्रित्य, शोचितव्ये न शोचसि ? ॥
(ख) महाभातर, शान्तिपर्व, अध्याय २२६।३
बद्धः पाशैश्च्युतः स्थानाद् द्विषतां वशमागतः ।
श्रिया विहीनो नमुचे ! शोचस्याहो न शोचसि ? ॥
(ग) वही २२२।११
बद्धःपाशच्युतः स्थानाद्द्विषतां वशमागत; ।
श्रिया बिहीनः प्रह्लाद ! शोचितव्ये न शोचसि ? ॥
२. वही, २२७।१३

किन्तु सांस्कृतिक भी था। आर्यों ने असुरों की अहिंसा का विरोध किया तो असुरों ने आर्यों की हिंसा और यज्ञ-पद्धति का विरोध किया।

भारतवर्ष में वैदिक-आर्यों का अस्तित्व सुदृढ़ होने के साथ-साथ यह विरोध की धारा प्रबल हो उठी थी। एम० विन्टरनित्ज ने लिखा है—"वेदों के विरुद्ध प्रतिक्रिया बुद्ध से सदियों पूर्व शुरू हो चुकी थी। कम से कम जैनों की परम्परा में इस प्रतिक्रिया के स्पष्ट निर्देश मिलते हैं और जैन-धर्म की संस्थापना ७५०ई० पू० में हो चुकी थी। इस विषय में जैनों की अन्यथा विश्वसनीय काल-बुद्धि और काल-गणना को यहाँ (और यहीं पर ?) झुठलाने की आवश्यकता नहीं। ब्यूलर का तो यह विश्वास था ही कि वेदों (और ब्राह्मण-धर्म) की प्रगति तथा वेद-विरोध की प्रगति, दोनों, प्रायः समानान्तर ही होती रही है। दुर्भाग्यवश, एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में यह साधित करने से पूर्व ही ब्यूलर की मृत्यु हो गयी।[१]"

श्रमण-संस्कृति का अस्तित्व पूर्ववर्ती था। इसी लिए वैदिक यज्ञ-संस्था का प्रारम्भ से ही विरोध हुआ। यदि वह न होती तो उस का विरोध कैसे होता ?

आचार्य क्षितिमोहनसेन के अनुसार तीर्थ, पूजा, भक्ति, नदी की पवित्रता, तुलसी, अश्वत्थ आदि वृक्षों से सम्बन्धित देव और सिन्दूर आदि उपकरण—ये सब वेद बाह्य वस्तुएँ हैं। आर्यों ने इन्हें आर्य-पूर्व जातियों से ग्रहण किया था।[२]

श्रमण-परम्परा में धर्म-संघ के लिए 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग होता था और उस के प्रवर्तक तीर्थंकर कहलाते थे।[३] दीघनिकाय में पूरणकश्यप, मस्करी—गोशाल, अजितकेशकम्बल, प्रक्रुद्धकात्यायन, संजयवेलट्ठीपुत्र और निर्ग्रन्थ ज्ञात-पुत्र—इन छहों को तीर्थंकर कहा है।[४]

नाग पूजा भगवान् ऋषभ के पुत्र भरत के समय में प्रचलित हुई थी।[५] भक्ति

१. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृष्ठ २३३
२. भारतवर्ष में जाति-भेद पृष्ठ ७५-७७
३. भगवती २०।८
४. दीघनिकाय (सामञ्ञफलसुत्त) प्रथम भाग, पृष्ठ ५६-६७
५. आवश्यक निर्युक्ति २१८

का मूल उद्गम द्रविड़ प्रदेश है, अतः वह भी आर्य-पूर्व हो सकती है।[1] गंगा यमुना आदि नदियों का वेदों में उल्लेख नहीं है और ब्राह्मण ग्रन्थों में वे बहुत पवित्र और देवता मानी गयी हैं। जैन सूत्रों में भवनवासी देवों के दस चैत्यवृक्ष, बतलाये गये हैं[2]। जैसे—

असुरकुमार	–अश्वत्थ
नागकुमार	–सप्तपर्ण–सात पत्तों वाला पलास
सुपर्णकुमार	– शाल्मली – सेमल
विद्युत्कुमार	– उदुम्बर
अग्निकुमार	– सिरीस
द्वीपकुमार	– दधिपर्ण
उदधिकुमार	– वंजुल – अशोक
दिशाकुमार	– पलाश – तीन पत्तों वाला पलाश
वायुकुमार	– वप्र
स्तनितकुमार	– कर्णिकार – कणेर

इसी प्रकार व्यन्तर देवों के भी आठ चैत्य-वृक्ष बतलाये गये हैं।[3] जैसे—

पिशाच	– कदम्ब
भूत	– तुलसी
यक्ष	– बरगद
राक्षस	– खट्वांग
किन्नर	– अशोक
किंपुरुष	– चंपक
नाग या महोरग	– नाग वृक्ष
गन्धर्व	– तिन्दुक

---

१. पद्मपुराण उत्तरखण्ड ५०।५१
उत्पन्ना द्राविड़े चाहं।
२. स्थानांग १०।७३६
३. वही ८।६५४

महात्मा बुद्ध के बोधिवृक्ष का महत्त्व आरम्भ से हो रहा है। जैन के २४ तीर्थंकरों के २४ ज्ञान-वृक्ष माने गये हैं।[1]

वृषभ	– न्यग्रोध
अजित	– सप्तपर्ण
संभव	– शाल
अभिनन्दन	– प्रियाल
सुमति	– प्रियंग
पद्मप्रभ	– छत्राभ
सुपार्श्व	– सिरीस
चन्द्रप्रभ	– नाग
सुविधि	– मल्ली
शीतल	– प्लक्ष
श्रेयांस	– तेंदुक
वासुपूज्य	– पाटल
विमल	– जम्बू
अनन्त	– अश्वत्थ
धर्म	– दधिपर्ण
शान्ति	– नन्दि
कुन्थु	– तिलक
अर	– आम्र
मल्ली	– अशोक
मुनिसुव्रत	– चंपक
नमि	– वकुल
नेमि	– वेतस
पार्श्व	– धातकी
महावीर	– शाल

१. समवायांग समवाय १५७

सिन्दूर भी आर्य-पूर्व नाग-जाति की वस्तु है। श्रमण-साहित्य में नदी, वृक्ष आदि का उत्सव मनाने के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य क्षितिमोहन सेन ने जिन वस्तुओं को वेद-बाह्य या अवैदिक कहा है, उन का महत्त्व या महत्त्वपूर्ण उल्लेख श्रमण-परम्परा के साहित्य में मिलता है, उन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन नहीं है कि जिसे आर्य-पूर्व संस्कृति या अवैदिक-परम्परा कहा जाता है, वह श्रमण-परम्परा ही होनी चाहिए

पुरातत्त्व

मोहनजोदड़ो की खुदाई से जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उन का सम्बन्ध श्रमण या जैन-परम्परा से हैं, ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं। यद्यपि एक मत से यह तथ्य स्वीकृत नहीं हुआ है फिर भी सारे परिकर का सूक्ष्म अवलोकन करने पर उन का सम्बन्ध श्रमण-परम्परा से ही जुड़ता है। इस के लिए सर जानमार्शल की 'मोहनजोदड़ो एण्ड इट्स सिविलिजेशन' के प्रथम भाग की बारहवीं प्लेट की १३, १४, १५, १८, १९, और २२ वीं कोष्ठिका के मूर्ति चित्र दर्शनीय हैं।

सिन्धु घाटी से प्राप्त मूर्तियों और कुषाण कालीन जैन मूर्तियों में अपूर्व साम्य है। कायोत्सर्ग मुद्रा जैन-परम्परा की ही देन है। प्राचीन जैन-मूर्तियाँ अधिकांशतः इसी मुद्रा में प्राप्त होती हैं। मोहनजोदड़ों की खुदाई से प्राप्त मूर्तियों की विशेषता यह है कि वे कायोत्सर्ग अर्थात् खड़ी मुद्रा में हैं, ध्यानलीन हैं, और नग्न हैं। खड़े रह कर कायोत्सर्ग करने की पद्धति जैन परम्परा में बहुत प्रचलित है। इस मुद्रा को 'स्थान' या 'ऊर्ध्व स्थान' कहा जाता है। पतंजलि ने जिसे आसन कहा है, उसे जैन आचार्य 'स्थान' कहते हैं, स्थान का अर्थ है गति—निवृत्ति। उस के तीन प्रकार हैं—[2]

१. ऊर्ध्व स्थान—खड़े हो कर कायोत्सर्ग करना।

२. निषीदन स्थान—बैठ कर कायोत्सर्ग करना।

३. शयन स्थान—सोकर कायोत्सर्ग करना।

---

१. राजप्रश्नीय, पृष्ठ २८४

२. आवश्यक निर्युक्ति गाथा १४६५, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ७७३

पर्यंकासन या पद्मासन जैन मूर्तियों की विशेषता है। धर्म-परम्पराओं में योग मुद्राओं का भेद होता था, उसी के सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—

'प्रभो! आप की पर्यंक आसन और नासाग्रदृष्टि वाली योग मुद्रा को भी पर-तीर्थिक नहीं सीख पाये हैं तो भला वे और क्या सीखेंगे?'[1] प्रोफ़ेसर प्राणनाथ ने मोहनजोदड़ो की एक मुद्रा पर जिनेश्वर शब्द पढ़ा है।[2]

■

१. अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका, श्लोक २०

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग ८, परिशिष्ट पृष्ठ १०

आत्म-विद्या : क्षत्रियों की देन

आत्म-विद्या की परम्परा

ब्रह्म विद्या या आत्म-विद्या अवैदिक शब्द है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण देवताओं में पहले ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। वह विश्व का कर्त्ता और भुवन का पालक था। उस ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूत ब्रह्म-विद्या का उपदेश दिया। अथर्वा ने अंगिर को, अंगिर ने भारद्वाज-सत्यवह को, भारद्वाज सत्यवह ने अपने से कनिष्ठ ऋषि को उस का उपदेश दिया। इस प्रकार गुरु-शिष्य के क्रम से वह विद्या अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई[1]।

बृहदारण्यक में दो बार ब्रह्म-विद्या की वंश-परम्परा बतायी गयी है[2]। उस के अनुसार पौतिमाष्य ने गौपवन से ब्रह्म-विद्या प्राप्त की। गुरु-शिष्य का क्रम चलते-चलते अन्त में बताया गया है कि परमेष्ठी ने वह विद्या ब्रह्मा से प्राप्त की। ब्रह्मा स्वयम्भू है। शंकराचार्य ने ब्रह्मा का अर्थ हिरण्यगर्भ किया है। उस से आगे आचार्य-परम्परा नहीं है, क्योंकि वह स्वयम्भू है[3]।

मुण्डक और बृहदारण्यक का क्रम एक नहीं है। मुण्डक के अनुसार ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति ब्रह्मा से अथर्वा को होती है और बृहदारण्यक के अनुसार वह ब्रह्मा से परमेष्ठी को होती है। ब्रह्मा स्वयम्भू है इस विषय में दोनों एक मत हैं।

जैन दर्शन के अनुसार आत्म-विद्या के प्रथम प्रवर्तक भगवान् ऋषभ हैं। वे प्रथम राजा, प्रथम जिन (अर्हत्), प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर, और प्रथम

---

१. मुण्डकोपनिषद् १।१; १।२

२. बृहदारण्यकोपनिषद् २।६।१;४।६।१-३

३. बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य, २।३।६, पृ० ६१८
परमेष्ठी विराट् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भात् ततः परं आचार्यपरम्परा नास्ति।

धर्मचक्रवर्ती थे।[1] उन के प्रथम जिन होने की बात इतनी विश्रुत हुई कि आगे चलकर प्रथम जिन उन का एक नाम बन गया[2]। श्रीमद्भागवत से भी इसी मत की पुष्टि होती है। वहाँ बताया गया है कि वासुदेव ने आठवाँ अवतार नाभि और मेरुदेवी के वहाँ धारण किया। वे ऋषभ रूप में अवतरित हुए और उन्होंने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया[3]। इसीलिए ऋषभ को मोक्ष-धर्म की विवक्षा से वासुदेवांश कहा गया[4]।

ऋषभ के सौ पुत्र थे। वे सब के सब ब्रह्म-विद्या के पारगामी थे[5]। उन के नौ पुत्रों को आत्म-विद्या-विशारद भी कहा गया है।[6] उन का ज्येष्ठ पुत्र भरत महायोगी था[7]।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कल्पसूत्र और श्रीमद्भागवत के सन्दर्भ में हम आत्मविद्या का प्रथम पुरुष भगवान् ऋषभ को पाते हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि उपनिषद्कारों ने ऋषभ को ही ब्रह्मा कहा हो।

ब्रह्मा का दूसरा नाम हिरण्यगर्भ है। महाभारत के अनुसार हिरण्यगर्भ ही

---

१. श्री जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, सू० ३०
उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढमकेवली पढमतित्थकरे पढमधम्मवरचक्क-वट्टी समुप्पज्जित्थे।

२. कल्पसूत्र १९४
उसभे णं कोसलिए कासवगुत्ते णं तस्स णं पंच नामधिज्जा एवमाहिज्जंति, तंजहा—उसभे इ वा पढमराया इ वा पढमभिक्खाचरे इ वा पढमजिणे इ वा।

३. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अध्याय ३, श्लोक १३
अष्टमे मेरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रम-नमस्कृतम्॥

४. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय २, श्लोक १६
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।

५. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय, २, श्लोक १६
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम्॥

६. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय २, श्लोक २०
नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना, आत्म-विद्या-विशारदाः॥

७. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय ४।६
येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः, श्रेष्ठ गुणः आसीत्।

योग का पुरातन विद्वान् है, कोई दूसरा नहीं।[1] श्रीमद्भागवत में ऋषभ को योगेश्वर कहा है।[2] उन्होंने नाना योग-चर्याओं का चरण किया था।[3] हठयोग प्रदीपिका में भगवान् ऋषभ को हठयोग-विद्या के उपदेष्टा के रूप में नमस्कार किया गया है।[4] जैन आचार्य भी उन्हें योग-विद्या के प्रणेता मानते हैं।[5] इस दृष्टि से भगवान् ऋषभ आदिनाथ, हिरण्यगर्भ और ब्रह्मा—इन नामों से अभिहित हुए हैं।

[6]ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ भूत जगत् का एक मात्र पति है। किन्तु उस से यह स्पष्ट नहीं होता कि वह परमात्मा है या देहधारी ? शंकराचार्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में ऐसी ही विप्रतिपत्ति उपस्थित की है—किन्हीं विद्वानों का कहना है कि परमात्मा ही हिरण्यगर्भ है और कई विद्वान् कहते हैं कि वह संसारी है।[7] यह सन्देह हिरण्यगर्भ के मूल स्वरूप की जानकारी के अभाव में प्रचलित था। भाष्यकार सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी है।[8] आत्मविद्या, संन्यास आदि के प्रथम प्रवर्तक होने के कारण इस प्रकरण में हिरण्यगर्भ का अर्थ ऋषभ ही होना चाहिए। हिरण्यगर्भ उन का एक नाम भी रहा है। ऋषभ जब गर्भ में थे

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३४९।६५
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः।

२. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय ४।३
भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वरः।

३. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय ५।३५
नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभः

४. हठयोग प्रदीपिका
श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

५. ज्ञानार्णव १।२
योगिकल्पतरुं नौमि देव-देवं वृषध्वजम्।

६. ऋग्वेद संहिता, मण्डल १०, अध्याय १०, सूत्र १२१, मन्त्र १
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

७. बृहदारण्यकोपनिषद्, भाष्य १।४।६, पृ० १८५
अत्र विप्रतिपद्यन्ते पर एव हिरण्यगर्भ इत्येके। संसारीत्यपरे।

८. तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक् ६२, सायण भाष्य।

तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की थी, इसलिए उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा गया।[1]

कर्म-विद्या और आत्म-विद्या

कर्म-विद्या और आत्म-विद्या—ये दो धाराएँ प्रारम्भ से ही विभक्त रही हैं। मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ—ये सात ऋषि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। ये प्रधान वेदवेत्ता और प्रवृत्ति-धर्मावलम्बी हैं। इन्हें ब्रह्मा द्वारा प्रजापति के पद पर प्रतिष्ठित किया गया। यह कर्म-परायण पुरुषों के लिए शाश्वत मार्ग प्रकट हुआ।[2]

सन, सनत्, सुजात, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार, कपिल और सनातन—ये सात ऋषि भी ब्रह्मा के मानस-पुत्र हैं। इन्हें स्वयं विज्ञान प्राप्त है और ये निवृत्ति-धर्मावलम्बी हैं। ये प्रमुख योग-वेत्ता, सांख्य-ज्ञान-विशारद, धर्म-शास्त्रों के आचार्य और मोक्षधर्म के प्रवर्तक हैं।[3]

सप्तति शतस्थान में बतलाया गया है कि जैन, शैव और सांख्य ये तीन धर्म-दर्शन भगवान् ऋषभ के तीर्थ में प्रवृत्त हुए थे। इस से महाभारत के उक्त तथ्यांश

---

१. महापुराण, पर्व १२, श्लोक ९५
सैषा हिरण्मयी वृष्टिः धनेशेन निपातिता।
विभो हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्॥

२. महाभारत, शान्ति पर्व, अध्याय ३४०।६९-७१
मरीचिरङ्गिराश्चात्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
वसिष्ठ इति सप्तैते मानसा निर्मिता हि ते॥
एते वेदविदो मुख्या वेदाचार्याश्च कल्पिताः।
प्रवृत्तिधर्मिणश्चैव प्राजापत्ये प्रतिष्ठिताः॥
अयं क्रियावतां पन्था व्यक्तिभूतः सनातनः।
अनिरुद्ध इति प्रोक्तो लोकसर्गकरः प्रभुः॥

३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३४०।७२-७४
सनः सनत्सुजातश्च सनकः ससनन्दनः।
सनत्कुमारः कपिलः सप्तमश्च सनातनः॥
सप्तैते मानसाः प्रोक्ता ऋषयो ब्रह्मणः सुताः।
स्वयमागतविज्ञाना निवृत्ति धर्ममास्थिताः॥
एते योगविदो मुख्याः सांख्यज्ञान-विशारदाः।
आचार्या धर्मशास्त्रेषु मोक्षधर्मप्रवर्तकाः॥

का समर्थन होता है।[1]

श्रीमद्भागवत में लिखा है—भगवान् ऋषभ के कुशावर्त आदि नौ पुत्र नौ अधिपति बने, कवि आदि नौ पुत्र आत्म-विद्या-विशारद श्रमण बने और भरत को छोड़ कर शेष ८१ पुत्र महाश्रोत्रिय, यज्ञशील और कर्म-शुद्ध ब्राह्मण बने। उन्होंने कर्म-तन्त्र का प्रणयन किया।[2]

भगवान् ऋषभ ने आत्म-तन्त्र का प्रवर्तन किया और उन के ८१ पुत्र कर्म-तन्त्र के प्रवर्तक हुए। ये दोनों धाराएँ लगभग एक साथ ही प्रवृत्त हुईं। यज्ञ का अर्थ यदि आत्म-यज्ञ किया जाये तो थोड़ी भेद रेखाओं के साथ उक्त विवरण का संवादक प्रमाण जैन-साहित्य में भी मिलता है[3] और यदि यज्ञ का अर्थ वेद-विहित यज्ञ किया जाये तो यह कहना होगा कि भागवतकार ने ऋषभ के पुत्रों को यज्ञ शील बता यज्ञ को जैन-परम्परा से सम्बन्धित करने का प्रयत्न किया है।

आत्म-विद्या भगवान् ऋषभ द्वारा प्रवर्तित हुई। उन के पुत्रों—वातरशन श्रमणों—द्वारा वह परम्परा के रूप में प्रचलित रही। श्रमण और वैदिक धारा का संगम हुआ तब प्रवृत्तिवादी वैदिक आर्य उस से प्रभावित नहीं हुए। किन्तु श्रमण परम्परा के अनुयायी असुरों की धृति, आत्म-लीनता और अशोकभाव को देखा और भौतिक समृद्धि की तुलना में आत्मिक समृद्धि को अधिक उन्नत देखा तो वे उस से सहसा प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

वेदोत्तर युग में आत्म-विद्या और उस के परिपार्श्व में विकसित होने वाले अहिंसा, मोक्ष आदि तत्त्व दोनों धाराओं के संगम स्थल हो गये।

वैदिक साहित्य में श्रमण-संस्कृति के और श्रमण-साहित्य में वैदिक-संस्कृति के अनेक संगम-स्थल हैं। यहाँ हम मुख्यतः आत्म-विद्या और उस के परिपार्श्व में अहिंसा की चर्चा करेंगे।

---

१. सप्तति शतस्थान ३४०, ३४१

जइणं सइवं संखं, वेअंतिय नाहिआण बुद्धाणं।
वइसेसियाण वि मयं इमाइं सग दरिसणाइं कम॥
तिन्नि उसहस्स तित्थे जायाइं सीयलस्स ते दुन्नि।
दरिसण मेगं पासस्स सत्तमं वीरतित्थंमि॥

२. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ५, अध्याय ४।६-१३

३. आवश्यक निर्युक्ति, पृ० २३५, २३६

आत्म-विद्या और वेद

महाभारत का एक प्रसंग है—महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से पूछा—भगवन् ! जो इस जगत् का कारण है, जिस के लिए वैदिक कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, ब्राह्मण लोग जिसे ज्ञान का अन्तिम फल बतलाते हैं तथा वेद के मन्त्र-वाक्यों द्वारा जिस का तत्त्व पूर्ण रूप से प्रकाश में नहीं आता, उस नित्य वस्तु का आप मेरे लिए यथार्थ वर्णन करें।[1]

मनुष्य को जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी को वह पाना चाहता है और पाने की इच्छा उत्पन्न होने पर उस के लिए वह प्रयत्न आरम्भ करता है, परन्तु मैं तो उस पुरातन परमोत्कृष्ट वस्तु के विषय में कुछ जानता ही नहीं हूँ, फिर पाने के लिए झूठा प्रयत्न कैसे करूँ ? मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेद का तथा छन्द का अर्थात् अथर्ववेद का एवं नक्षत्रों की गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँचों महाभूतों के उपादान कारण को न जान सका। तत्त्वज्ञान होने पर कौन-सा फल प्राप्त होता है ? कर्म करने पर किस फल को उपलब्धि होती है ? देहाभिमानी जीव देह से किस प्रकार निकलता है और फिर दूसरे शरीर में प्रवेश कैसे करता है ? ये सारी बातें भी आप मुझे बतायें।[2]

इसी प्रकार नारद सनत्कुमार से कहता है—'भगवन् ! मुझे उपदेश दें। तब सनत्कुमार ने कहा—तुम जो जानते हो वह मुझे बतलाओ, फिर उपदेश दूँगा।' तब नारद ने कहा—भगवन् ! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद याद हैं। इतिहास, वेदों के वेद (व्याकरण), गणित, उत्पातज्ञान, निधि-शास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देव-विद्या, ब्रह्म-विद्या, भूत-विद्या, क्षत्र-विद्या, सर्प-विद्या, और देव-जन-विद्या (नृत्य संगीत आदि) को मैं जानता हूँ।[3]

सब वेदों को जान लेने पर भी आत्म-विद्या का ज्ञान नहीं होता था, उस का कारण मुण्डकोपनिषद् से स्पष्ट होता है।

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, २०१।४

२. महाभारत, शान्तिपर्व २०१।७,८,६

३. छान्दोग्योपनिषद् ७।१।१,२. पृ० ७१२, ७१३

शौनक ने अंगिरा के पास विधिपूर्वक जा कर पूछा—भगवन् ! किसे जानने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है ?

अंगिरा ने कहा—दो विधाएँ हैं—एक 'परा' और दूसरी 'अपरा'। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह 'अपरा' है। तथा जिस से उस अक्षर परमात्मा का ज्ञान होता है वह 'परा' है।[1]

इस 'परा' विद्या को वेदों से पृथक् बतलाने का तात्पर्य यही हो सकता है वैदिक ऋषि इसे महत्त्व नहीं देते थे।

श्रमण परम्परा और क्षत्रिय

श्रमण परम्परा में क्षत्रियों की प्रमुखता रही है और वैदिक परम्परा में ब्राह्मणों की। भगवान् महावीर का देवानन्द की कोख से त्रिसला क्षत्रियाणी की कोख में संक्रमण किया गया, यह तथ्य श्रमण परम्परा सम्मत क्षत्रिय जाति की श्रेष्ठता का सूचक है।[2] महात्मा बुद्ध ने कहा था—वाशिष्ठ ! ब्रह्मा सनत्कुमार ने भी गाथा कही है—

"गोत्र ले कर चलने वाले जनों में क्षत्रिय श्रेष्ठ हैं।

जो विद्या और आचरण से युक्त है, वह देव मनुष्यों में श्रेष्ठ है। वशिष्ठ ! यह गाथा ब्रह्मा सनत्कुमार ने ठीक ही कही है, बेठीक नहीं कही। सार्थक कही, अनर्थक नहीं। इस का मैं भी अनुमोदन करता हूँ।[3]"

क्षत्रिय की उत्कृष्टता का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में भी मिलता है। यह इतिहास की उस भूमिका पर अंकित हुआ जान पड़ता है, जब क्षत्रिय और ब्राह्मण एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो रहे थे। वहाँ लिखा है—आरम्भ में यह एक ब्रह्म ही था। अकेले होने के कारण वह विभूति-युक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उस ने अतिशयता से क्षत्र-इस प्रशस्त रूप की रचना की अर्थात् देवताओं में जो क्षत्रिय, इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशान आदि हैं,

---

१. मुण्डकोपनिषद् १।१।३-५

२. कल्पसूत्र २०-२५

३. दीघनिकाय ३।४, पृ० २४५

उन्हें उत्पन्न किया। अतः क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसी से राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण नीचे बैठ कर क्षत्रिय की उपासना करता है, वह क्षत्रिय में ही अपने यश को स्थापित करता है।

आत्म-विद्या के लिए ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों की उपासना

क्षत्रियों की श्रेष्ठता उन की रक्षात्मक शक्ति के कारण नहीं, किन्तु आत्म-विद्या की उपलब्धि के कारण थी। यह आश्चर्यपूर्ण नहीं, किन्तु बहुत यथार्थ बात है कि ब्राह्मणों को आत्म-विद्या क्षत्रियों से प्राप्त हुई है।

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पंचालदेशीय लोगों की सभा में आया। प्रवाहण ने कहा—कुमार! क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है?

श्वेतकेतु—हाँ भगवन्!

प्रवाहण—क्या तुझे मालूम है कि इस लोक से (जाने पर) प्रजा कहाँ जाती है?

श्वेतकेतु—भगवन्! नहीं।

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोक में कैसे आती है?

श्वेतकेतु—नहीं। भगवन्।

प्रवाहण—देवयान और पितृयान—इन दोनों मार्गों का एक दूसरे से विलग होने का स्थान तुझे मालूम है?

श्वेतकेतु—नहीं भगवन्।

प्रवाहण—तुझे मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यों नहीं है?

श्वेतकेतु—भगवन्! नहीं।

प्रवाहण—क्या तू जानता है कि पाँचवीं आहुति के हवन कर दिये जाने पर आप (सोमघृतादि रस) पुरुष संज्ञा को कैसे प्राप्त होते हैं?

श्वेतकेतु—भगवन्! नहीं।

'तो फिर तू अपने को' मुझे शिक्षा दी गयी है, ऐसा क्यों बोलता था? जो इन बातों को नहीं जानता वह अपने को शिक्षित कैसे कह सकता है?

तब वह त्रस्त हो कर अपने पिता के स्थान पर आया और उस से बोला—श्रीमान् ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैं ने तुझे शिक्षा दे दी

है। उस क्षत्रिय बन्धु ने मुझ से पाँच प्रश्न पूछे थे, किन्तु मैं उन में से एक का भी विवेचन नहीं कर सका।

उस ने कहा—'तुम ने उस समय (आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाये हैं, उन में से मैं एक को भी नहीं जानता। यदि मैं उन्हें जानता तो तुम्हें क्यों नहीं बतलाता?'

तब वह गौतम राजा के स्थान पर आया और उस ने अपनी जिज्ञासाएँ राजा के सामने प्रस्तुत कीं।

राजा ने उसे चिरकाल तक अपने पास रखने का अनुरोध किया और कहा—'गौतम! जिस प्रकार तुम ने मुझ से कहा है, पूर्वकाल में तुम से पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गयी। इसी से सम्पूर्ण लोकों में क्षत्रियों का ही (शिष्यों के प्रति) अनुशासन होता रहा है।[1]'

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी राजा प्रवाहण आरुणि से कहता है—'इस से पूर्व यह विद्या (अध्यात्म-विद्या) किसी ब्राह्मणों के पास नहीं रही। वह मैं तुम्हें बताऊँगा।[2]

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलुप का पुत्र सत्ययज्ञ, मल्लविके का पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्करक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र वुडिल—ये महा गृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित हो कर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और हम क्या है?

उस ने निश्चय किया कि अरुण का पुत्र उद्दालक इस समय वैश्वानर आत्मा को जानता है, अतः हम उस के पास चलें। ऐसा निश्चय कर वे उस के पास आये।

उस ने निश्चय किया कि ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझ से प्रश्न करेंगे, किन्तु मैं इन्हें पूरी तरह से बतला नहीं सकूँगा। अतः मैं इन्हें दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ।

उस ने उस से कहा—इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानर संज्ञक

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ५।३।१-७. पृ० ४७२-४७६

२. बृहदारण्यकोपनिषद् ६।२।८

आत्मा को अच्छी तरह जानता है। आइए हम उसी के पास चलें। ऐसा कह कर वे उस के पास चले गये।

उन्होंने केकयकुमार अश्वपति से कहा—इस समय आप वैश्वानर आत्मा को अच्छी तरह से जानते हैं, इस लिए उन का ज्ञान हमें दें।

दूसरे दिन केकयकुमार अश्वपति ने उन्हें आत्म-विद्या का उपदेश दिया।[1] ब्राह्मणों के ब्रह्मणत्व पर तीखा व्यंग्य करते हुए अजातशत्रु ने गार्ग्य से कहा था—ब्राह्मण क्षत्रियों की शरण में इस आशा से जाये कि यह मुझे इस ब्रह्म का उपदेश करेगा, यह तो विपरीत है, तो भी मैं तुम्हें उस का ज्ञान कराऊँगा ही।[2]

प्रायः सभी मैथिल नरेश आत्म-विद्या को आश्रय देते थे।[3]

एम-विंटरनित्स ने इस विषय पर बहुत विशद विवेचना की है। उन्होंने लिखा है—'भारत के इन प्रथम दार्शनिकों को उस युग के पुरोहितों में खोजना उचित न होगा, क्योंकि पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढाँचा देने में दिलोजान से लगे हुए थे जब कि इन दार्शनिकों का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था। जो ब्राह्मण यज्ञों के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते हैं, उन्हीं के घर में ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले ले जो इन्द्र तक की सत्ता में विश्वास न करे, देवताओं के नाम से आहुतियाँ देना जिसे व्यर्थ नजर आये, बुद्धि नहीं मानती। तो अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्हीं लोगों का क्षेत्र था, जिन्होंने वेदों में पुरोहितों का शत्रु अर्थात् अ-रि, कंजूस, 'ब्राह्मणों का दक्षिणा देने से जी चुराने वाला' कहा गया है।'

उपनिषदों में तो, और कभी-कभी ब्राह्मणों में भी ऐसे कितने ही स्थल आते हैं जहाँ दर्शन-अनुचिन्तन के उस युग प्रवाह में क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन स्वतः सिद्ध हो जाती है।

कौशीतकी ब्राह्मण (२६।५) में प्राचीन भारत की साहित्यिक गतिविधि की निदर्शक एक कथा, राजा प्रतर्दन के सम्बन्ध में आती है कि किस प्रकार वह

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ५।११।१-७, पृ० ५३६-५४३
२. वृहदारण्यकोपनिषद् २।१।१५, पृ० ४२२
३. श्रीविष्णु पुराण ४।५।३४, पृ० ३१०
प्रायेणै ते आत्म-विद्याश्रयिणो भूपाला भवन्ति।

मानी ब्राह्मणों से यज्ञ-विद्या के विषय में जूझता है। शतपथ की ११वीं कण्डिका में राजा जनक सभी पुरोहितों का मुँह बन्द कर देते हैं और तो और ब्राह्मणों को जनक के प्रश्न समझ में ही नहीं आये ? एक और प्रसंग में श्वेतकेतु-सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य सरीखे माने हुए ब्राह्मणों से प्रश्न करते हैं कि अग्निहोत्र करने का सच्चा तरीक़ा क्या है और किसी से इस का सन्तोषजनक उत्तर नहीं बन पाता। यज्ञ की दक्षिणा अर्थात् सौ गायें याज्ञवल्क्य के हाथ लगती है, किन्तु जनक साफ़-साफ़ कहे जाता है कि अग्निहोत्र की भावना अभी स्वयं याज्ञवल्क्य को भी स्पष्ट नहीं हुई और सत्र के अनन्तर जब महाराज अन्दर चले जाते हैं तो ब्राह्मणों में कानाफूसी चल पड़ती है कि यह क्षत्रिय हो कर हमारी ऐसी की तैसी कर गया, खैर हम भी तो इसे सबक दे सकते हैं—ब्रह्मोद्य (के विवाद) में इसे नीचा दिखा सकते हैं ? तब याज्ञवल्क्य उन्हें मना करता है—देखो, हम ब्राह्मण हैं और वह सिर्फ़ एक क्षत्रिय है, हम उसे जीत भी लें तो हमारा उस से कुछ बढ़ नहीं जाता और अगर उस ने हमें हरा दिया तो लोग हमारी मखौल उड़ायेंगे–देखो, एक छोटे से क्षत्रिय ने ही इन का अभिमान चूर्ण कर डाला। और उन से (अपने साथियों से) छुट्टी पा कर याज्ञवल्क्य स्वयं जनक के चरणों में हाज़िर होता है, और कहता है भगवन् ! मुझे भी ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी अपने स्वानुभव का कुछ प्रसाद दीजिए और भी ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं, जिन से आत्म-विद्या पर क्षत्रिय का प्रभुत्व प्रमाणित होता है।

आत्म-विद्या के पुरस्कर्त्ता

एम० विन्टरनिट्ज ने लिखा है[१]—जहाँ ब्राह्मण यज्ञ-याग आदि की नीरस प्रक्रिया से लिपटे हुए थे, अध्यात्म-विद्या के चरम प्रश्नों पर और लोग स्वतन्त्र चिन्तन कर रहे थे। इन्हीं ब्राह्मणेतर मण्डलों से ऐसे वानप्रस्थों तथा रमते परिव्राजकों का सम्प्रदाय उठा—जिन्होंने न केवल संसार और सांसारिक सुख-वैभव से अपितु यज्ञादि की नीरसता से भी अपना सब नाता तोड़ लिया था। आगे चल कर बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण-विरोधी मत-मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतन्त्र चिन्तकों तथाकथित नास्तिकों—की बदौलत ही सम्भव हो सका,

१. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८३

यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है, प्राचीन यज्ञादि—सिद्धान्तों के भस्मशेष से इन स्वतन्त्र विचारों की परम्परा बही—यह भी एक (और) ऐतिहासिक तथ्य है। याज्ञिकों में 'जिद' कुछ घर कर आती और न यह नयी दृष्टि कुछ सम्भव हो सकती।

इन सब का यह मतलब न समझा जाये कि ब्राह्मणों का उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन में कोई भाग था ही नहीं, क्योंकि प्राचीन गुरुकुलों में एक ही आचार्य की छत्र-छाया में ब्राह्मण-पुत्रों, क्षत्रिय-पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का तब प्रबन्ध था और यह सब स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि विभिन्न समस्याओं पर समय-समय पर उन दिनों विचार-विनिमय भी बिना किसी भेदभाव के हुआ करते हों।[1]

"बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत-मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतन्त्र चिन्तकों-तथाकथित नास्तिकों की बदौलत ही सम्भव हो सका।" इस वाक्य की अपेक्षा यह वाक्य अधिक उपयुक्त हो सकता है कि बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण विरोधी मत-मतान्तरों का विकास आत्म-वेत्ता क्षत्रियों की बदौलत ही सम्भव हो सका। क्योंकि अध्यात्म-विद्या की परम्परा बहुत प्राचीन रही है, सम्भवतः वेद-रचना से पहले भी रही है। उस के पुरस्कर्त्ता क्षत्रिय थे। ब्राह्मण पुराण भी इस बात का समर्थन करते हैं कि भगवान् ऋषभ क्षत्रियों के पूर्वज हैं।[2] उन्हों ने सुदूर अतीत में अध्यात्म-विद्या का उपदेश दिया था।

ब्राह्मणों की उदारता

ब्राह्मणों ने भगवान् ऋषभ और उन की अध्यात्म विद्या को जिस प्रकार अपनाया, वह उन की अपूर्व उदारता का ज्वलन्त उदाहरण है। एम० विण्टरनिट्ज के शब्दों में हम यह भी न भूल जायें कि (भारत के इतिहास में) ब्राह्मणों में

---

१. प्राचीन भारतीय, साहित्य, प्रथम खण्ड, प्रथम भाग, पृ० १८६

२. (क) वायुपुराण पूर्वार्द्ध, अध्याय ३३, श्लोक ५०

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥

(ख) ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्द्ध अनुषंगपाद, अध्याय १४।६०

ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद्द भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः॥

ही यह प्रतिभा पायी जाती है कि वे अपनी घिसी-पिटी उपेक्षित विद्या में भी नये–विरोधी भी क्यों न हों—विचारों को संगति बिठा सकते हैं, आश्रम-व्यवस्था को, इसी विशिष्टता के साथ, चुपचाप उन्होंने अपने (ब्राह्मण) धर्म का अंग बना लिया—वानप्रस्थ और संन्यासी लोग भी इन्हों की प्राचीन व्यवस्था में समा गये[1]।

आरण्यकों और उपनिषदों में विकसित होने वाली अध्यात्म विद्या को विचार संगम की संज्ञा दे कर हम अतीत के प्रति अन्याय नहीं करते। डॉ० भगवत शरण उपाध्याय का मत है कि ऋग्वैदिककाल के बाद, जब उपनिषदों का समय आया तब तक क्षत्रिय-ब्राह्मण संघर्ष उत्पन्न हो गया था और क्षत्रिय ब्राह्मणों से वह पद छीन लेने को उद्यत हो गये थे जिस का उपभोग ब्राह्मण वैदिक-काल से किये आ रहे थे[2]। पार्जिटर का अभिमत इस से भिन्न है। उन्होंने लिखा है—राजाओं व ऋषियों की परम्पराएँ भिन्न-भिन्न रहीं। सुदूर अतीत में दो भिन्न परम्पराएँ थीं—क्षत्रिय परम्परा और ब्राह्मण परम्परा। यह मानना विचारपूर्ण नहीं कि विशुद्ध क्षत्रिय-परम्परा पूर्णतः विलीन हो गयी थी या अत्यधिक भ्रष्ट हो गयी या जो वर्तमान में है, वह मौलिक नहीं। ब्राह्मण अपने धार्मिक व्याख्याओं को सुरक्षित रख सके व उन का पालन कर सके हैं तो क्षत्रियों के सम्बन्ध में इस से विपरीत मानना अविचारपूर्ण है। क्षत्रिय परम्परा में भी ऐसे व्यक्ति थे, जिन का मुख्य कार्य ही परम्परा को सुरक्षित रखना था।

....क्षत्रिय व ब्राह्मण परम्परा का अन्तर महत्त्वपूर्ण है और स्वाभाविक भी। यदि क्षत्रिय परम्परा का अस्तित्व नहीं होता तो वह आश्चर्यजनक स्थिति होती।....ब्राह्मण व क्षत्रिय परम्परा की भिन्नता प्राचीनतम काल से पुराणों से संकलन व पौराणिक ब्राह्मणों का उन पर अधिकार होने तक रही।[3]

वस्तुतः क्षत्रिय परम्परा ऋग्वेदकाल से पूर्ववर्ती है। उपनिषद्काल में क्षत्रिय ब्राह्मणों का पद छीन लेने को उद्यत नहीं थे प्रत्युत ब्राह्मणों को आत्म-विद्या का ज्ञान

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८६
२. देखें, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११०
३. Ancient Indian Historical tradition. Page 5-6.

दे रहे थे। जैसा कि डॉ० उपाध्याय ने लिखा है—ब्राह्मणों के यज्ञानुष्ठान आदि के विरुद्ध क्रान्ति कर क्षत्रियों ने उपनिषद्-विद्या की प्रतिष्ठा की और ब्राह्मणों ने अपने दर्शनों की नींव डाली। इस संघर्ष का काल-प्रसार काफ़ी लम्बा रहा जो अन्ततः द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मणों के राजनीतिक उत्कर्ष का कारण हुआ। इस में एक ओर तो वशिष्ठ, परशुराम, तुरकावषेय, कात्यायन, राक्षस, पतंजलि और पुष्यमित्र शुंग की परम्परा रही और दूसरी ओर विश्वामित्र, देवापि, जनमेजय, अश्वपति, कैकेय, प्रवहण, जैबलि—अजातशत्रु, कौशेय, जनक, विदेह, पार्श्व, महावीर, बुद्ध और बृहद्रथ की।[1]

आत्म-विद्या और अहिंसा

अहिंसा का आधार आत्म-विद्या है। उस के बिना अहिंसा कोरी नैतिक बन जाती है, उस का आध्यात्मिक मूल्य नहीं रहता।

अहिंसा और हिंसा कभी ब्राह्मण और क्षत्रिय परम्परा की विभाजन रेखा था। अहिंसा-प्रिय होने के कारण क्षत्रिय जाति बहुत जन-प्रिय हो गयी थी। जैसा कि दिनकरजी ने लिखा है—अवतारों में वामन और परशुराम, ये दो ही हैं, जिनका जन्म ब्राह्मण-कुल में हुआ था। बाक़ी सभी अवतार क्षत्रियों के वंश में हुए हैं। यह आकस्मिक घटना हो सकती है, किन्तु इस से यह अनुमान आसानी से निकल आता है कि यज्ञों पर पलने के कारण ब्राह्मण इतने हिंसाप्रिय हो गये थे कि समाज उन से घृणा करने लगा और ब्राह्मणों का पद उस ने क्षत्रियों को दे दिया। प्रतिक्रिया केवल ब्राह्मण धर्म (यज्ञ) ही नहीं, ब्राह्मणों के गढ़ कुरु पंचाल के ख़िलाफ़ भी जगी और वैदिक-सभ्यता के बाद वह समय आ गया जब इज़्ज़त कुरु-पंचाल की नहीं, बल्कि मगध और विदेह की होने लगी। कपिलवस्तु में जन्म लेने के ठीक पूर्व, जब तथागत स्वर्ग में देवयोनि में विराज रहे थे, तब की कथा है कि देवताओं ने उन से कहा कि अब आप का अवतार होना चाहिए। अतएव आप सोच लीजिए कि किस देश और किस कुल में जन्म ग्रहण कीजिएगा। तथागत ने सोच-समझ कर बताया कि महाबुद्ध के अवतार के योग्य

---

१. देखें—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ११०

तो मगध देश और क्षत्रिय-वंश ही हो सकता है। इसी प्रकार, महावीर, वर्धमान भी पहले एक ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे। लेकिन इन्द्र ने सोचा कि इतने बड़े महापुरुष का जन्म ब्राह्मण वंश में कैसे हो सकता है? अतएव उस ने ब्राह्मणी का गर्भ चुरा कर उसे एक क्षत्राणी के कुक्षि में डाल दिया। इन कहानियों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन दिनों यह अनुभव किया जाने लगा था कि अहिंसा धर्म का महाप्रचारक ब्राह्मण नहीं हो सकता, इसीलिए बुद्ध और महावीर के क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होने की कल्पना लोगों को बहुत अच्छी लगने लगी[१]।

उक्त अवतरणों व अभिमतों से ये निष्कर्ष हमें सहज उपलब्ध होते हैं—

१. आत्म-विद्या के आदि स्रोत तीर्थंकर ऋषभ थे।

२. वे क्षत्रिय थे।

३. उन की परम्परा क्षत्रियों में बराबर समादृत रही।

४. अहिंसा का विकास भी आत्म-विद्या के आधार पर हुआ।

५. यज्ञ संस्था के समर्थक ब्राह्मणों ने वैदिककाल में, आगम-काल में, आत्म-विद्या को प्रमुखता नहीं दी।

६. आरण्यक व उपनिषद्काल में वे आत्म-विद्या की ओर आकृष्ट हुए।

७. क्षत्रियों के द्वारा उन्हें वह (आत्म-विद्या) प्राप्त हुई।

■

१. वही, पृ० १०६, ११०

उपनिषद्, पुराण और महाभारत में श्रमण संस्कृति का स्वर

श्रमण परम्परा आत्म-विद्या की परम्परा है। वह उतनी ही प्राचीन है, जितनी प्राचीन आत्म-विद्या है। भारतीय विद्याओं में आत्म-विद्या का स्थान सर्वोच्च है। जो व्यक्ति आत्मा को नहीं जानता, वह बहुत कुछ जान कर भी ज्ञानी नहीं बन पाता। शौनक ने अंगिरा से पूछा—भगवन्! वैसा क्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाय[1]?

उपनिषदों में इस का उत्तर है—'आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है।' यह श्रमण संस्कृति का प्रधान स्वर है।

आत्म-विद्या क्षत्रिय परम्परा के अधीन रही है। पुराणों के अनुसार क्षत्रियों के पूर्वज भगवान् ऋषभ है[2]। श्रीमद्‌भागवतकार के अभिमत में भगवान् ऋषभ मोक्षधर्म के प्रवर्तक अवतार हैं[3]। भगवान् ऋषभ के सौ पुत्र थे। उन में नौ पुत्र वातरशन श्रमण बनें। वे आत्म-विद्या विशारद थे[4]। भगवान् ऋषभ ने जिस

---

१. मुण्डकोपनिषद् १।१।३

२. (क) ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्ध अनुषंगपाद, अध्याय १४, श्लोक ६०
ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं सर्व-क्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद्द भरतो जज्ञे वीरः पुत्र-शताग्रजः॥
(ख) वायुमहापुराण, पूर्वार्ध, अध्याय ३३, श्लोक ५०
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं सर्व-क्षत्रस्य पूर्वजम्॥

३. श्रीमद्द्भागवत ११।२।१६
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्द ब्रह्मपारगम्॥

४. श्रीमद्द्भागवत ११।२।२०
नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः॥

आत्म-विद्या और मोक्ष-विद्या का प्रवर्तन किया, वह सुदीर्घ काल तक क्षत्रियों के अधीन रही। बृहदारण्यक औद छान्दोग्य उपनिषद् में हम देख पाते हैं कि अनेक ब्राह्मण-ऋषि क्षत्रिय राजाओं के पास जाते हैं और आत्म-विद्या का बोध लेते हैं[1]।

विण्टरनिट्ज के मत में दार्शनिक चिन्तन (अथवा जागरण) ब्राह्मण युग के पश्चात् नहीं, पूर्व शुरू हो चुका था।[2] स्वयं ऋग्वेद में ही कुछ ऐसे सूक्त हैं जिन में देवताओं में और पुरोहितों की अद्भुत शक्ति में जनता के अन्ध-विश्वास के प्रति कुछ सन्देह स्पष्ट हो चुके हैं।

भारत के इन प्रथम दार्शनिकों को उस युग के पुरोहितों में खोजना उचित न होगा, क्योंकि पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढाँचा देने में दिलोजान से लगे हुऐ थे। जब कि इन दार्शनिकों का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था। जो ब्राह्मण यज्ञों के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते हैं, उन्हीं के घर में ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले-ले जो इन्द्र तक की सत्ता में वि.वास न करे, देवताओं के नाम से आहुतियाँ देना जिसे व्यर्थ नज़र आये, बुद्धि नहीं मानती। यह अधिक सम्भव नहीं प्रतीत होता कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्हीं लोगों का क्षेत्र था जिन्हें वेदों में पुरोहितों का शत्रु अर्थात् अरि, कंजूस, ब्राह्मणों को दक्षिणा देने से जी चुराने वाला—कहा गया है।

उपनिषदों में तो और कभी-कभी ब्राह्मणों में भी, ऐसे कितने ही स्थल आते हैं, जहाँ दर्शन-अनुचिन्तन के उस युग-प्रवाह में क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन स्वतः सिद्ध हो जाती है।[3]

अपने पुत्र श्वेतकेतु से प्रेरित हो आरुणि पंचाल के राजा प्रवाहण के पास गया। तब राजा ने उस से कहा—मैं तुम्हें जो आत्म-विद्या और परलोक-विद्या

१. छान्दोग्य उपनिषद्द ५।३,५।११; बृहदारण्यक ६।२,२।१

२. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८२

३. प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग, प्रथम खण्ड, पृ० १८३

दे रहा हूँ, उस पर आज तक क्षत्रियों का प्रशासन रहा है। आज पहली बार वह ब्राह्मणों के पास जा रही है।[1]

परा और अपरा

माण्डूक्य उपनिषद् में विद्या के दो प्रकार किये गये हैं, परा और अपरा। उस में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—यह अपरा है। जिस में अक्षर-परमात्मा का ज्ञान होता है, वह परा है।[2]

महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से कहा—मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेद, अथर्ववेद, नक्षत्र-गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँचों महाभूतों के उपादान कारण को न जान सका।[3] प्रजापति मनु ने कहा—मुझे इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट का निवारण हो, इसी के लिए कर्मों का अनुष्ठान—आरम्भ किया गया है। इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों, इस के लिए ज्ञानयोग का उपदेश दिया गया है। वेद में जो कर्मों के प्रयोग बताये गये हैं, वे प्रायः सकाम भाव से युक्त हैं जो इन कामनाओं से मुक्त होता है, वही परमात्मा को पा सकता है। नाना प्रकार के कर्म-मार्ग में सुख की इच्छा रख कर प्रवृत्त होने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।[4]

पिता-पुत्र संवाद

ब्राह्मण पुत्र मेधावी मोक्ष-धर्म के अर्थ में कुशल था। वह लोकतत्त्व का अच्छा ज्ञाता था। एक दिन उस ने अपने स्वाध्याय-परायण पिता से कहा—

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् ५।३।७, पृ० ४७६
यथा मा त्वं गौतमावदौ यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्माद सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच।
(ख) बृहदारण्यक ६।२।८, पृष्ठ १२८७
यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि।

२. १।१।४,५

३. महाभारत, शान्तिपर्व २०१।८

४. महाभारत, शान्तिपर्व २०१।१०,११

'पिता ! मनुष्यों की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है। यह जानते हुए धीर पुरुष को क्या करना चाहिए ? तात ! आप मुझे उस यथार्थ उपाय का उपदेश कीजिए, जिस के अनुसार मैं धर्म का आचरण कर सकूँ।'

पिता ने कहा—'बेटा ! द्विज को चाहिए कि वह पहले ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के पितरों की सद्गति के लिए पुत्र पैदा करने की इच्छा करे। विधि-पूर्वक त्रिविध अग्नियों की स्थापना करके यज्ञों का अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। उस के बाद मौन-भाव से रहते हुए संन्यासी होने की इच्छा करे।'

पुत्र ने कहा—'पिता ! यह लोक जब इस प्रकार से मृत्यु द्वारा मारा जा रहा है, जरा अवस्था द्वारा चारों ओर से घेर लिया गया है, दिन और रात सफलता पूर्वक आयुक्षय रूप काम करके बीत रहे हैं, ऐसी दशा में भी आप धीर की भाँति कैसी बात कर रहे हैं ?'

पिता ने पूछा—'बेटा ! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो ? बताओ तो सही, यह लोक किस से मारा जा रहा है, किस ने हमें घेर रखा है और यहाँ कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलता पूर्वक अपना काम कर के व्यतीत हो रहे हैं।'

पुत्र ने कहा—'पिता ! देखिए यह सम्पूर्ण जगत् मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापे ने इसे चारों ओर से घेर लिया है और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलता पूर्वक प्राणियों की आयु का अपहरण स्वरूप अपना काम कर के व्यतीत हो रहे हैं, इस बात को आप समझते क्यों नहीं ?'

'ये अमोघ रात्रियाँ नित्य आती हैं और चली जाती हैं। जब मैं इस बात को जानता हूँ कि मृत्यु क्षण-भर के लिए भी रुक नहीं सकती और मैं उस के जाल में फँस कर ही विचर रहा हूँ तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ।'

'जब एक-एक रात बीतने के साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है तब छिछले जल में रहने वाली मछली के समान कौन सुख पा सकता है ?'

'जिस रात के बीतने पर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिन को विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' समझे। मनुष्य की कामनाएँ पूरी भी नहीं होने पातीं कि मौत उस के पास आ पहुँचती है।'

'जैसे घास चरते हुए मेढ़े के पास अचानक व्याघ्री पहुँच जाती है और उसे दबोच कर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्य का मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती है और उसे ले कर चल देती है।'

'इस लिए जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिए। क्योंकि जीवन निःसन्देह अनित्य है। धर्माचरण करने से इहलोक में मनुष्य को कीर्ति का विस्तार होता है और परलोक में भी उसे सुख मिलता है।'

'अतः अब मैं हिंसा से दूर रह कर सत्य की खोज करूंगा, काम और क्रोध को हृदय से निकाल कर दुःख और सुख में समान भाव रखूँगा तथा सब के लिए कल्याणकारी बन कर देवताओं के समान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाऊँगा।'

'मैं निवृत्ति परायण हो कर शान्तिमय यज्ञ में तत्पर रहूँगा। मन और इन्द्रियों को बस में रख कर ब्रह्म-यज्ञ में लग जाऊँगा और मुनि-वृत्ति से रहूँगा। उत्तरायण मार्ग से जाने के लिए मैं जप और स्वाध्याय रूप वाग्यज्ञ, ध्यान रूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुशुश्रूषादि रूप कर्म-यज्ञ का अनुष्ठान करूंगा।'

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत्॥

'मेरे जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देने वाले हिंसायुक्त पशु-यज्ञ और पिशाचों के समान अपने शरीर के ही रक्त-मांस द्वारा किये जाने वाले तामस-यज्ञों का अनुष्ठान कैसे कर सकता है?'

'जिस की वाणी और मन दोनों सदा भलीभाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्य से सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है।'

'संसार में विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है। सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है।'

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजाऽपि वा।
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा॥

'मैं सन्तान रहित होने पर भी आत्मा में ही आत्मा द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ और आत्मा में ही लीन हो जाऊँगा। सन्तान मुझे पार नहीं उतारेगी।'

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च।
शीलंस्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥

'परमात्मा के साथ एकता तथा समता, सत्य-भाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्ड का परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकार के सकाम कर्मों से उपरति—इन के समान ब्राह्मण के लिए दूसरा कोई धन नहीं है।'

'ब्राह्मण देव पिता! जब आप एक दिन मर हो जायेंगे तो आप को इस धन से क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओं से आप का क्या काम है तथा स्त्री आदि से आप का कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है। आप अपने हृदयरूपी गुफा में स्थित हुए परमात्मा को खोजिए। सोचिए तो सही आप के पिता और पितामह कहाँ चले गये।[1]'

वैदिक विचार-धारा वह है, जो छठे श्लोक में पिता ने पुत्र से कहा। मनुस्मृति से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है—'जो ब्राह्मण वेद पढ़े बिना, सन्तान उत्पन्न किये बिना तथा यज्ञों का अनुष्ठान किये (ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और देव-ऋण से उऋण हुए) बिना संन्यास धारण की इच्छा करता है, वह नीच गति को प्राप्त होता है।[2] इस मान्यता के विपरीत मेधावी ने अपने पिता से कहा वह अवैदिक विचारधारा है। वह श्रमण विचारधारा का मन्तव्य है[3]।'

पौराणिक धर्म कृष्ण के व्यक्तित्व को केन्द्र बिन्दु मान कर विकसित हुआ है। कृष्ण का धर्म वैदिक सिद्धान्तों से भिन्न था।

कृष्ण का व्यक्तित्व उत्पत्ति से अवैदिक था[4]। ऐसे अभिमत को पूर्वपक्ष के

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १७५, श्लोक ६–१४, १६, ३१-३८

२. मनुस्मृति ६।३७
अनधीत्य द्विजो वेदान्, अनुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च, मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥

३. उत्तराध्ययन १४

४. जर्नल आफ़ ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, भाग १२, नं० ३, पृष्ठ २३२-२३७

रूप में उद्धृत करते हुए लक्ष्मण शास्त्री ने लिखा है—'पौराणिक धर्म की एक विशेषता यह है कि उस के मुक़ाबले में यज्ञ-संस्था एकदम पिछड़ गयी। भागवतधर्म में वेद-विहित यज्ञों को दोषपूर्ण बतलाया गया है, उन की निन्दा की गयी है। इस के आधार पर इतिहास के कई पण्डित यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि पौराणिक संस्कृति तथा वेदों की स्मृति में विरोध है और पौराणिक धर्म वास्तव में अवैदिकों के वेद-पूर्व काल से चलते आये धर्म की वह नवीन व्यवस्था है जिसे वैदिकों ने बड़े समन्वय पूर्वक तैयार किया है। उपपत्ति को सिन्ध प्रान्त में उत्खनन में पाये गये तीन हज़ार वर्षों के पूर्ववर्ती सांस्कृतिक अवशेषों से पुष्टि मिलती है। यह अनुमान किया जाता है कि उस उन्नत संस्कृति के लोगों में योग-विद्या तथा लिंग-रूप शिव की पूजा तो अवश्य विद्यमान थी, परन्तु उन में वेदों की याज्ञिक याने यज्ञ पर आधारित संस्कृति नहीं थी। इस अनुमान के लिए पर्याप्त सामग्री इस उत्खनन में पायी गयी है। ध्यानस्थ शिव की मूर्ति तथा पूजनीय शिश्न-समान लिंग वहाँ उपलब्ध हुए हैं।'[1]

मार्कण्डेय पुराण में भी पिता और पुत्र का संवाद है। पिता का नाम भार्गव है और पुत्र का नाम है सुमति। भार्गव ने सुमति से कहा—'पुत्र! पहले वेदों को पढ़ो, गुरुशुश्रूषा में संलग्न रहो, भिक्षान्न खाओ, फिर गृहस्थ बनो, यज्ञ करो, सन्तान उत्पन्न करो, वनवासी बनो फिर परिव्राजक—इस क्रम से ब्रह्म की प्राप्ति करो।'[2] पिता की वाणी सुन सुमति कुछ नहीं बोला। पिता ने अपनी बात को बार-बार दोहराया, तब सुमति मुसकान भरते हुए बोला—'पिता आपने जो उपदेश दिया, उस का मैं बहुत बार अभ्यास कर चुका हूँ। अनेक शास्त्रों और शिल्पों का भी मैं ने अभ्यास किया है। मुझे मेरे अनेक पूर्व-जन्मों की स्मृति हो रही है। मुझे ज्ञानबोध उत्पन्न हो गया है। मुझे वेदों से कोई प्रयोजन नहीं है। मैं ने अनेक माता-पिता किये हैं।'[3]

---

१. वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ १५४, १५५

२. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक १०।१३

३. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक १४–२६

संसार परिवर्तन के लम्बे वर्णन के बाद सुमति ने कहा—'पिता ! संसार-चक्र में भ्रमण करते-करते मुझे अब मोक्षप्राप्ति कराने वाला ज्ञान मिल गया है। उसे जान लेने पर यह सारा ऋग्, यजुः और साम संहिता का क्रिया-कलाप मुझे विगुण सा लग रहा है। वह मुझे सम्यक् प्रतिभासित नहीं हो रहा है। मुझे बोध उत्पन्न हो गया है। मैं गुरु-विज्ञान से तृप्त और निरीह हो गया हूं। मुझे वेदों से कोई प्रयोजन नहीं। पिता ! मैं किंपाक फल के समान इस अधर्माढ्य-त्रयी (ऋग्, यजुः, साम धर्म) को छोड़ कर परमपद की प्राप्ति के लिए जाऊंगा।'[1]

पिता ने पूछा—'पुत्र ! यह ज्ञान तुझे कैसे सम्भव हुआ। सुमति ने कहा—'पिता, मैं पूर्वजन्म में परमात्मलीन ब्राह्मण संन्यासी था। आत्म-विद्या में मुझे परानिष्ठा प्राप्त थी। मैं आचार्य हुआ। अन्त में मरते समय मुझे प्रमाद हो आया। एक वर्ष का होते-होते मुझे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आयी। मुझे जो जाति स्मरण ज्ञान हुआ है, उसे त्रयी धर्म का आश्रय लेने वाले नहीं पा सकते।'[2]

यज्ञ

सोलह ऋत्विक्, यजमान और उस की पत्नी—ये अठारह यज्ञ के साधन हैं। ये सब निकृष्ट कर्म के आश्रित और विनाशी हैं। जो मूढ़ 'यही श्रेय है' इस प्रकार इन का अभिनन्दन करते हैं, ये बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं।[3]

यज्ञ-संस्था की उपयोगिता के प्रति सन्देह की भावना आरण्यक काल में भी

---

१. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक २७, २८, ३२
एवं संसारचक्रेऽस्मिन्भ्रमता तात संकटे।
ज्ञानमेतन्मया प्राप्तं मोक्ष-सम्प्राप्ति-कारकम् ॥
विज्ञाते तत्र सर्वोऽयं ऋग्-यजुः-सामसंहिता।
क्रियाकलापो विगुणो न सम्यक् प्रतिभाति मे ॥
तस्माद् यास्याम्यहं तात ! त्यक्त्वेमां दुःखसन्ततिम्।
त्रयीधर्ममधर्माढ्यं किंपाकफलसन्निभम् ॥

२. मार्कण्डेय पुराण अध्याय १०, श्लोक ३४-४२
ज्ञानदानफलं ह्येतद् यज्जातिस्मरणं मम।
न ह्येतद् प्राप्यते तात ! त्रयीधर्माश्रितैर्नरैः ॥ ४२ ॥

३. मुण्डक पनिषद् १।२।७, पृष्ठ ३८

उत्पन्न हो गयी थी। तत्त्वज्ञानी के लिए आध्यात्मिक यज्ञ का विधान होने लगा था। तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है—'ब्रह्म का साक्षात्कार पाने वाले विद्वान् संन्यासी के लिए यज्ञ का यजमान आत्मा है। अन्तःकरण की श्रद्धा पत्नी है। शरीर समिधा है। हृदय वेदि है। मन्यु—क्रोध पशु है। तप अग्नि है और दम दक्षिणा है[1]।'

ये स्वर इतिहास के उस काल में प्रबल हुए थे, जब श्रमण विचार-धारा कर्मकाण्ड को आत्म-विद्या से प्रभावित कर रही थी।

■

१. तैत्तिरीय आरण्यक, प्रपाठक १०, अनुवाक ६४, भाग २, पृष्ठ ७७६

उपनिषदों पर श्रमण-संस्कृति का प्रभाव

भारतीय साहित्य की दो धाराएँ मानी जाती हैं—वैदिक और श्रामणिक। जैनों और बौद्धों का जो साहित्य है, उसे श्रामणिक (श्रमण परम्परा का) और शेष सारे साहित्य को वैदिक कहा जाता है। पर यह स्थापना निर्दोष नहीं है। यहाँ श्रमणों के अनेक सम्प्रदाय रहे हैं—जैन, बौद्ध, आजीवक, गैरिक, तापस आदि।[1] मूलाचार के अनुसार रक्तपट, चरक, तापस, परिव्राजक, शैव, कापालिक आदि भी अवैदिक सम्प्रदाय थे[2]। सांख्य दर्शन वैदिक-धारा का प्रबल विरोधी था। उस ने श्वेताश्वतर, प्रश्न, मैत्रायणी जैसे प्राचीन उपनिषदों को बहुत प्रभावित किया था।

समय के प्रवाह में आजीवकों का आज अस्तित्व नहीं रहा पर उन का साहित्य सर्वथा लुप्त नहीं हुआ। उस ने वैदिक और अवैदिक सभी साहित्य धाराओं में स्थान पाया है। गैरिक, तापस आदि वैदिक परम्परा में विलीन हो गये हैं पर उन का साहित्य उन की धारा में पूर्णतः विलीन नहीं हुआ। उस का अपना स्वर आज भी मुखरित है।

स्थानांग सूत्र से पता चलता है कि महावीर के युग में साहित्य की तीन धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं—लौकिक, वैदिक और सामयिक[3]। राजनीति, अर्थनीति और कामनीति सम्बन्धी ग्रन्थ लौकिक साहित्य की कोटि में आते थे। ऋग्, यजु और साम—ये तीन वेद वैदिक-साहित्य के मुख्य ग्रन्थ थे। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के निरूपक ग्रन्थ सामयिक या श्रामणिक साहित्य की धारा के थे।

---

१. दशवैकालिक, हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ६८
२. मूलाचार ५।६२
३. स्थानांग ३।३।१८५

इस लेख में मेरा प्रतिपाद्य विषय यह है कि उपनिषद् पूर्णरूपेण वैदिक धारा के ग्रन्थ नहीं हैं। आज हम जिसे वैदिक साहित्य मानते हैं, वह सारा वैदिक नहीं है किन्तु लौकिक, वैदिक, श्रामणिक—इन तीनों का संगम है। वह अनेक धाराओं का संगम है, इसीलिए उस में अनेक विरोधी धाराएँ परिदृष्ट हो रही हैं।

दूसरी धाराओं के संरक्षक जैसे-जैसे मिटते गये, वैसे वैसे उन का साहित्य अपने संरक्षकों के अभाव में वैदिक-धारा के प्रबल प्रवाह में सम्मिलित होता गया।

साहित्य की कसौटी

वैदिक साहित्य का मुख्य भाग यज्ञ था। उस का विकास उत्तरोत्तर होता रहा। समूचा यजुर्वेद उसी से अनुप्राणित है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की परम्परा और आगे बढ़ गयी थी।

औपनिषदिक धारा जिसे श्रमणों की धारा कहा जा सकता है, यज्ञों का विरोध करती थी। उस का प्रवाह अध्यात्म-विद्या की ओर था। हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं? क्यों आये हैं? कहाँ जायेंगे? आदि-आदि प्रश्नों पर विचार किया जाता था[1]। अध्यात्म-विद्या श्रमण-साहित्य की कसौटी थी।

त्रिवर्ग विद्या (अर्थ, धर्म और काम) लौकिक साहित्य की कसौटी थी। इन तीनों कसौटियों के आधार पर हम जान सकते हैं कि अमुक साहित्य किस धारा का है या किस धारा से प्रवाहित है?

आचार्य शंकर ने जिन दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा, वे प्राचीन माने जाते हैं। उन के नाम हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक। डॉ० बेलकर और रानाडे के अनुसार प्राचीन उपनिषदों में मुख्य ये हैं—छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, कठ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, कौषीतकि, केन और प्रश्न[2]। इन में से कुछ उपनिषदों में वेद एवं वैदिक धारा के प्रति जो विरोध है, उसे देख सहज ही प्रश्न होता है कि वेदों और उस की धारा का विरोध करने वाले उपनिषद् क्या वैदिक साहित्य की

---

१. केनोपनिषद् १

२. हिस्ट्री ऑफ् इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ८७-९०

कोटि में आ सकते हैं ? मुण्डकोपनिषद् में वेदों को अपरा-विद्या कहा गया है; परा-विद्या, जिस से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, उस से भिन्न है[1]।

परा-विद्या अध्यात्म या आत्म-विद्या है[2]। ऊंकार के द्वारा उस आत्मा का ध्यान किया जाता था[3]। प्रश्नोपनिषद् में भी इसी तथ्य की विशेष अभिव्यक्ति हुई है। वहाँ बताया गया है कि ऋग्वेद के द्वारा साधक इस लोक को, यजुर्वेद के द्वारा अन्तरिक्ष को और सामवेद के द्वारा तृतीय ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। इन से पर-ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती। समग्र ओंकार के ध्यान से उस लोक की प्राप्ति होती है, जो शान्त, अजर, अमर, अभय और पर है अर्थात् उस से पर-ब्रह्म की प्राप्ति होती है[4]। नारद चारों वेदों और अन्य अनेक विद्याओं का पारगामी था। उस ने सनत्कुमार से यही कहा—भगवन् ! मैं मन्त्रवित् नहीं हूं।[5] इस से साधक के मन में वेदों के प्रति कोई उत्कर्ष की भावना उत्पन्न नहीं होती। यह भावना महाभारत और अन्य पुराणों में संक्रान्त हुई है। उन में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ आत्म-विद्या या मोक्ष के लिए वेदों की असारता प्रकट की गयी है। श्वेताश्वतर के भाष्य में आचार्य शंकर ने ऐसा एक प्रसंग उद्धृत किया है। वहाँ भृगु अपने पिता से कहता है[6]—

"त्रयीधर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसन्निभम्।
नास्ति तात ! सुखं किंचिदत्र दुःखशताकुले॥
तस्मान् मोक्षाय यतता कथं सेव्या मया त्रयी।"

त्रयी-धर्म अधर्म का ही हेतु है। यह किंपाक (सेमर) फल के समान है। हे तात ! सैकड़ों दुःखों से पूर्ण इस कर्म-काण्ड में कुछ भी सुख नहीं है। अतः मोक्ष के लिए प्रयत्न करने वाला मैं त्रयी-धर्म का किस प्रकार सेवन कर सकता हूं।

---

१. मण्डूकोपनिषद् १।१।५
२. मुण्डकोपनिषद् २।५
३. मुण्डकोपनिषद् २।६
४. प्रश्नोपनिषद् ५।७
५. छान्दोग्योपनिषद् ७।१।२-३
६. श्वेताश्वतर, पृष्ठ २३

गीता में भी यही कहा गया है कि त्रयी-धर्म (वैदिक कर्म) में लगे रहने वाले सकाम पुरुष संसार में आवागमन करते रहते हैं[1]। यज्ञों को श्रेय मानने वाले मूढ़ होते हैं[2]। आत्म-विद्या के लिए वेदों की असारता और यज्ञों के विरोध में आत्म-यज्ञ की स्थापना किसी अवैदिक धारा की ओर संकेत करती है[3]।

इस से वैदिक ऋषियों की उदार और सर्वग्राही भावना के प्रति सहज ही आदर-भाव उत्पन्न होता है कि उन्होंने विरोधी धाराओं को भी किस प्रकार अपनी धारा में समन्वित कर लिया।

शब्द-साम्य

उपनिषदों में श्रमण-धारा के दर्शन का दूसरा हेतु शब्द-साम्य है। उन में ऐसे अनेक शब्द हैं, जिन का उपयोग श्रमण-साहित्य में अधिक हुआ है। छान्दोग्य में कषाय शब्द राग-द्वेष के अर्थ में व्यवहृत है[४]। जैन-आगम साहित्य में यह इसी अर्थ में हजारों बार प्रयुक्त है, जबकि वैदिक साहित्य में इस अर्थ में उस का प्रयोग सहज लभ्य नहीं है। माण्डूक उपनिषद् का 'तायी' शब्द भी वैसा ही है। वह वैदिक साहित्य में प्राय: व्यवहृत नहीं है। जैन और बौद्ध साहित्य में उस का प्रचुर व्यवहार हुआ है।[५]

विषय-साम्य

विषय-वर्णन की दृष्टि से भी उपनिषदों के कुछ सिद्धान्तों का श्रमणों की सिद्धान्त-धारा से बहुत गहरा सम्बन्ध है।

मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदों में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ श्रमण विचार-धारा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब है। जर्मन विद्वान् हर्टले ने यह प्रमाणित किया है कि मुण्डकोपनिषद् में लगभग जैन-सिद्धान्त जैसा वर्णन मिलता है और जैन

---

१. भगवद्गीता ९।२१
२. मण्डूकोपनिषद् १।२।७,१०
३. छान्दोग्य उपनिषद् ८।५।१; बृहदारण्यक २।२।६,१०
४. छान्दोग्य उपनिषद् ७।२६, मृदित कषायाय
शंकराचार्य ने इस के भाष्य में लिखा है—मृदित कषायाय वार्क्षादिरिव कषायो राग-द्वेषादि दोष: सत्त्वस्य रंजना रूपत्वात्—।
५. माण्डूक उपनिषद् ६६

पारिभाषिक शब्द भी वहाँ व्यवहृत हुए हैं[१]।

उस प्राचीन काल में वेदों और उपनिषदों के अतिरिक्त ब्रह्म-विद्या विषयक साहित्य श्लोक नाम से प्रसिद्ध था[२]। द्वादशांगी के विवरण में सर्वत्र यह मिलता है कि प्रत्येक अंग में सख्येक श्लोक थे[3]। वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य से भिन्न पूर्ववर्ती श्रमण-साहित्य भी विद्यमान था[४]। यह असम्भव नहीं कि उपनिषदों का ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी विवरण व श्लोक साहित्य किसी पूर्ववर्ती ब्रह्म-विद् श्रमण परम्परा का आभारी है।

निर्ग्रन्थ परम्परा में उद्दालक, नारद, वरुण, अंगऋषि (या अंगिरस) याज्ञवल्क्य आदि प्रत्येक बुद्ध हुए हैं। उपनिषदों में भी इन का उल्लेख है[५]।

कहीं-कहीं तो विषय साम्य भी है। "जब तक लोकैषणा है तब तक वित्तैषणा है। जब तक वित्तैषणा है तब तक लोकैषणा है। साधक लोकैषणा और वित्तैषणा का त्याग कर गोपथ में जाये, महापथ से न जाये—यह अर्हत् याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा[६]।"

बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य कुषीतक के पुत्र कहोल से कहते हैं—"यह वही आत्मा है, जिसे जान लेने पर ब्रह्मज्ञानी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से मुँह फेरकर ऊपर उठ जाते हैं। भिक्षा से निर्वाह कर सन्तुष्ट रहते हैं।

---

१. इण्डो इरेनियन मूलग्रन्थ और संशोधन भाग ३

२. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग ३, पृष्ठ ३०७-३१

३. समवाय सूत्र १३६-१४६; नन्दी सूत्र ४५-५५

४. The Jainas in the history of Indian Literature, by Dr. Maurce Winternitz, Ph. D., page 5.
Even before their was such a thing as Buddhist or Jaina literature, there must have been Sramana literature besides the Brahmanic literature.

५. उद्दालक, छान्दोग्य ५
नारद, छान्दोग्य ७
वरुण, तैत्तिरीय ३।१
अंगिरस, मुण्डक १।२
याज्ञवल्क्य, बृहदारण्यक ३।४।१

६. इसिभासियाइं १२

"········जो पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है। जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है[1]।"

इसिभासिय को याज्ञवल्क्य भी एषणा त्याग के बाद बृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य की भाँति भिक्षा से सन्तुष्ट रहने की बात कहते हैं[2]। इस प्रकार दोनों की कथन-शैली में विचित्र समानता है। वैदिक विचार धारा में पुत्रैषणा के त्याग का स्थान नहीं है। उस के अनुसार सन्तानोत्पत्ति आवश्यक कर्म है। इसलिए सहज ही यह प्रश्न होता है कि बृहदारण्यक में एषणा त्याग का विचार कहाँ से आया ? इस आधार पर यह कल्पना होती है कि उपनिषद् का कुछ भाग श्रमणों की रचना है अथवा श्रमण-संस्कृति से प्रभावित होने वाले ऋषियों की रचना है अथवा श्रमणों और वैदिक ऋषियों का मिला-जुला प्रयत्न है। कुछ और अतीत में जायें तो कहा जा सकता है कि यह क्रम आरण्यककाल तथा उस के पूर्व वेदकाल में ही प्रारम्भ हो गया था। अरुण, केतु और [3]वातरशन ये तीन प्रकार के ऋषि थे, उन में वातरशन ऋषि श्रमण थे, भगवान् ऋषभ के शिष्य थे। वे ऊर्ध्वमन्थी (ऊर्ध्वरेता) हो गये। उन के पास कुछ दूसरे ऋषि जिज्ञासा लिये हुए आये। उन्हें पहले ही मालूम हो गया था, अतः वे उन के आने से पहले ही अन्तर्हित हो गये। योग सामर्थ्य से शरीर को सूक्ष्म बना 'कूष्माण्ड' नामक मन्त्रवाक्य में प्रविष्ट हो गये। आने वाले ऋषिगण ने चित्त को शान्त किया और ध्यान से देखा तो उन्हें वे वातरशन श्रमण प्रत्यक्ष दीखे। वे वातरशन श्रमणों से बोले—आप क्यों अन्तर्हित हुए ? तब उन्होंने कहा—हम आप को नमस्कार करते हैं। आप हमारे स्थान पर आये हैं, हम आप की क्या परिचर्या करें ? तब आने वाले ऋषिगण ने कहा—वातरशन ऋषि ! आप हमें वैसा पवित्र-शुद्धि का साधन बतलायें, जिस से हम पापरहित हो जायें। उन्होंने आने वाले ऋषिगण

---

१. बृहदारण्यक ३।५।१

२. इसिभासियाइं १२।१-२

३. वैदिक कोश, पृष्ठ ४७३

यह शब्द ऋग्वेद १०,१३६,२ में मुनियों के लिए और तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।२; १।२४।४; २।७।१; में ऋषियों के लिए आया है। नग्न साधु अभिप्रेत होते हैं, जिन का उल्लेख परवर्ती साहित्य में बहुधा मिलता है।

को शुद्धि का साधन बतलाया और वह ऋषिगण पाप-रहित हो गया[1]।

इस प्रकरण से यह प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि श्रमणों से मिलते थे और उन से आत्म-धर्म का बोध लेते थे।

एम० विण्टरनिट्ज ने अर्वाचीन उपनिषदों को अवैदिक माना है[2]। किन्तु उक्त तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन उपनिषद् भी पूर्णतः वैदिक नहीं हैं।

■

१. तैत्तिरीयारण्यक, प्रपाठक २, अनुवाक ७, पृष्ठ १३७–१३९
२. प्राचीन भारतीय साहित्य, पृष्ठ १९०–१९१

यज्ञ और अहिंसक परम्पराएँ

यज्ञ भारतीय साहित्य का बड़ा विश्रुत शब्द है। इस का सामान्य अर्थ था देवपूजा। वैदिक विचार धारा के योग से यह विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया—वैदिक कर्म-काण्ड का वाचक बन गया। एक समय भारतीयजीवन में यज्ञ संस्था की धूम थी, आज वह निष्प्राण-सी है। वेद-काल में उसे बहुत महत्त्व मिला और उपनिषद्काल में उस का महत्त्व कम होने लगा।

ऋग्वेदकालीन मान्यता थी—"जो यज्ञरूपी नौका पर सवार न हो सके, वे अधर्मी हैं, ऋणी हैं और नीच अवस्था में दबे हुए हैं।[१]"

इस के विपरीत मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है—"यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ़ इन को श्रेय मानते हैं, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं[२]।"

यज्ञ का विरोध

श्रमण संस्थाएँ अहिंसा-निष्ठ थीं, इसलिए वे प्रारम्भ से यज्ञ का विरोध कर रही थीं। उस का प्रज्वलित रूप हमें जैन साहित्य, बौद्ध साहित्य और महाभारत में मिलता है। महाभारत यद्यपि श्रमणों का विचार-ग्रन्थ नहीं है, पर उस का एक बहुत बड़ा भाग उन की विचार-धारा का प्रतिनिधित्व करता है। सांख्य और शैव भी यज्ञ-संस्था के उतने ही विरोधी रहे हैं, जितने जैन और बौद्ध।

---

१. ऋग्वेद संहिता १०।४।४४
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारूहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः।

२. मुण्डकोपनिषद्‌ १।२।७
प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥

प्रजापति दक्ष के यज्ञ में शिव का आह्वान नहीं किया गया। महर्षि दधीचि ने अपने योग बल से यह जान लिया कि ये सब देवता एकमत हो गये हैं, इसलिए उन्होंने शिव को निमन्त्रित नहीं किया है।[1] उन्होंने प्रजापति दक्ष से कहा—मैं जानता हूँ, आप सब लोगों ने मिल-जुल कर, शिव को निमन्त्रित न करने का निश्चय किया है, परन्तु मैं शंकर से बढ़ कर किसी को देव नहीं मानता। प्रजापति दक्ष का यह विशाल यज्ञ नष्ट हो जायेगा।[2] आखिर वही हुआ। पार्वती के अनुरोध पर शिव ने वीरभद्र की सृष्टि की। उस ने प्रजापति दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर डाला।

यह कथा बताती है कि शिव उस संस्कृति के थे, जिसे यज्ञ मान्य नहीं था। इसीलिए देवताओं ने उन्हें निमन्त्रित नहीं किया था।

सांख्य कारिका में स्पष्ट है कि सांख्य लोग यज्ञ में विश्वास नहीं करते थे। वे इसे हेय मानते थे।

महर्षि कपिल और स्यूमरश्मि के संवाद में भी यही प्राप्त होता है। स्यूमरश्मि हिंसा का समर्थन करता है और महर्षि कपिल अहिंसा की प्राचीन परम्परा को पुष्ट करते हैं। उन्होंने त्वष्टा के लिए नियुक्त गाय को देख कर निश्वास लेते हुए कहा—'हा वेद! तुम्हारे नाम पर लोग ऐसा-ऐसा अनाचार करते हैं।'

स्यूमरश्मि ने कहा—'आप वेदों की प्रामाणिकता में सन्देह करते हैं।'

महर्षि कपिल बोले—'मैं वेदों की निन्दा नहीं करता हूँ। किन्तु वैदिक मत से भिन्न दूसरा मत है—कर्मों का आरम्भ न किया जाये—उस का प्रतिपादन कर रहा हूँ। यज्ञ आदि कार्यों में आलम्बन (पशु-वध) न करने पर दोष नहीं होता और आलम्बन करने पर महान् दोष होता है। मैं अहिंसा से परे कुछ भी नहीं देखता[4]'

राक्षस नाग आदि यज्ञविरोधी थे। पुराणों के अनुसार असुर आर्हत धर्म के

१. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २८४। श्लोक १६
२. महाभारत शान्तिपर्व, २८४। श्लोक २१
३. महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय २८४। श्लोक २६-५०।
४. वही २६८, श्लोक ७-१७।

अनुयायी हो गये थे।[1] रावण ने भी राजा मरुत को हिंसात्मक यज्ञ से विमुख किया था।[2]

यज्ञ के प्रकार

यज्ञ के मुख्य तीन प्रकार मिलते हैं....

(१) औषधि-यज्ञ, जिस में फल-फूल आदि का व्यवहार होता।

(२) प्राणि-यज्ञ, जिस में पशु और मनुष्य की बलि दी जाती।

(३) आत्मयज्ञ, जो आध्यात्मिक व्रत से सम्पन्न होता।

औषधि यज्ञ

'अजैर्यष्टव्यम्'—इस वैदिक श्रुति का अर्थ-परिवर्तन किया गया, तब पशु-बलि प्रचलित हुई। इस से पूर्व औषधि-यज्ञ किये जाते थे। महाभारत का एक प्रसंग है—एक बार ब्रह्म-ऋषि यज्ञ के लिए एकत्रित हुए। उस समय देवताओं ने उन से कहा—अज से यज्ञ करना चाहिए और इस प्रकरण में अज का अर्थ बकरा ही है। ब्रह्मर्षियों ने कहा—यज्ञ में बीजों द्वारा यजन करना चाहिए, यह वैदिक श्रुति है। बीज का नाम ही अज है, बकरे का वध करना उचित नहीं। यह सत्ययुग चल रहा है, इस में पशु का वध कैसे किया जा सकता है ?[3] देवता और ऋषि संवाद कर रहे थे, इतने में राजा वसु उस मार्ग से निकला। वह सत्यवादी था। सत्य के प्रभाव से उपरिचर था—आकाश में चलता था। उसे देख ब्रह्मर्षियों ने देवताओं से कहा—वसु हमारा सन्देह दूर कर देगा। वे सब उस के पास गये। प्रश्न उपस्थित किया। राजा ने दोनों का मत जान अपना निर्णय देवताओं के पक्ष में दिया। वह जान-बूझ कर असत्य बोला, अतः ब्रह्मर्षियों ने उसे शाप दिया और वह आकाश से नीचे गिर पाताल में चला गया।[4]

जैन साहित्य में भी 'अजैर्यष्टव्यम्'—इस विवाद का उल्लेख मिलता है। एक बार साधु-परिषद् में 'अज' शब्द को ले कर विवाद उठ खड़ा हुआ। उस समय

---

१. विष्णुपुराण ३।१७, १८।

२. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व ७, सर्ग २, पत्र ७।

३. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७। श्लोक ३-५

४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७। श्लोक ६-१७

ऋषि नारद ने कहा—'जिस में अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गयी, वैसा तीन वर्ष पुराना जौ 'अज' कहलाता है। पर्वत ने इस का प्रतिवाद किया। वह बोला—अज का अर्थ बकरा है।'[1]

उस परिषद् में पर्वत का अर्थ मान्य नहीं हुआ। वह क्रुद्ध हो कर वहाँ से चला गया। उस ने महाकाल असुर से मिल जाल रचा। स्थान-स्थान पर यह प्रचार शुरू किया—"पशुओं की सृष्टि यज्ञ के लिए की गयी है। उन का वध करने से पाप नहीं होता किन्तु स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं।" राजा सगर को विश्वास दिला कर पर्वत ने साठ हजार पशु यज्ञ के लिए प्राप्त किये। मन्त्रोच्चारण पूर्वक उन्हें यज्ञ-कुण्ड में डालना शुरू किया। महाकाल असुर ने दिखाया कि वे सब पशु विमान में बैठ सदेह स्वर्ग जा रहे हैं। उस माया से लोग मूढ़ हो गये। यज्ञ में मरने को स्वर्ग प्राप्ति का उपाय मानने लगे।[2] राजा वसु की सभा में भी नारद और पर्वत का विवाद हुआ। राजा वसु ने पर्वत की माँ (अपने गुरु की पत्नी) के आग्रह से पर्वत का पक्ष ले अज का अर्थ बकरा किया। उस ने कहा—'पर्वत जो कहता है, वह स्वर्ग का साधन है। भय-मुक्त हो कर सब लोग उस का आचरण करें। इस असत्यवाणी के साथ-साथ वसु का सिंहासन भूमि में धँस गया।[3]

इन दोनों आख्यानों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रारम्भ में वैदिक लोग भी यज्ञ में पशु-बलि नहीं देते थे। महाभारत के अनुसार वह देवताओं और उत्तर पुराण के अनुसार महाकाल असुर और पर्वत ब्राह्मण के आग्रह से शुरू हुई।

---

१. उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३२९-३३२

गच्छत्स्येवं तयोः काले कदाचित्साधुसंसदि ।
अजैर्होतव्यमित्यस्य वाक्यस्यार्थप्ररूपणे ॥
विवादोऽभून्महांस्तत्र विगताङ्कुरशक्तिकम् ।
यद्बीजं त्रिवर्षस्थमजमित्यभिधीयते ॥
तद्विकारेण सप्तार्चिर्मुखे देवार्चनं विदः ।
वदन्ति यज्ञमित्याख्यदनुपद्धति नारदः ॥
पर्वतोऽप्यजशब्देन पशुभेदः प्रकीर्तितः ।
यज्ञोऽग्नौ तद्विकारेण होत्रमित्यवदद्विधीः ॥

२. वही. पर्व ६७।३४३-३६२

३. वही, पर्व ६७, श्लोक ४१३-४३६

राजा वसु पहले पशु-यज्ञ का विरोधी और अहिंसाप्रिय था। उस ने एक बार यज्ञ किया। उस में किसी पशु का वध नहीं हुआ। उस ने जंगल में उत्पन्न फल-फूल आदि पदार्थ ही देवताओं के लिए निश्चित किये। उस समय देवाधिदेव भगवान् नारायण ने प्रसन्न हो कर राजा को प्रत्यक्ष दर्शन दिया, किन्तु दूसरे किसी को उन का दर्शन नहीं हुआ।[1]

इस प्रकरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वसु अहिंसा-धर्मी और निराशी-कामनाओं से मुक्त था। उस ने सम्भव है परम्परा के निर्वाह के लिए यज्ञ किया। पर उस का यज्ञ पूर्णतः औषधि-यज्ञ था। इस से यह भी स्पष्ट होता है कि श्रीकृष्ण भी पशु-बलि के नितान्त विरोधी थे। उन्होंने वसु को दर्शन इसीलिए दिया कि उस ने अपने यज्ञ में पशु-बलि का सर्वथा तिरस्कार किया था।

प्राणि-यज्ञ

जैन-पुराणों के अनुसार पशु-बलि वाले यज्ञों का प्रारम्भ बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत के तीर्थकाल में हुआ। यही काल राम-लक्ष्मण का अस्तित्व काल है। इस काल में महाकाल असुर और पर्वत के द्वारा पशु-यज्ञ का विधान किया गया।[2] महर्षि नारद ने उस का घोर विरोध किया था।[3]

वैश्य तुलाधार ने पशुहिंसा का विरोध किया तो मुनि जाजलि ने उसे नास्तिक कहा। इस पर तुलाधार ने कहा—जाजले ! मैं नास्तिक नहीं हूँ। और यज्ञ का निन्दक भी नहीं हूँ। मैं उस यज्ञ की निन्दा करता हूँ, जो अर्थलोलुप नास्तिक व्यक्तियों द्वारा प्रवर्तित है[4]। हिंसक यज्ञ पहले नहीं थे। यह महाभारत

---

१. (क) महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३६, श्लोक १०-१२
सम्भृता; सर्वसंभारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥
अहिंसः शुचिरक्षुद्रो निराशीः कर्मसंस्तुतः।
आरण्यकपदोद्भूता भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान् देवदेवः पुरातनः।
साक्षात तं दर्शयामास सोऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥

२. उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३२७-३८४

३. उत्तरपुराण, पर्व ६७, श्लोक ३८५-४४५

४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६३। श्लोक २-१८

से प्रमाणित होता है। राजा विचरन्नु ने देखा—यज्ञशाला में एक बैल की गरदन कटी हुई है, बहुत-सी गौएँ आर्तनाद कर रही हैं और कितनी ही गौएँ खड़ी हैं। यह देख राजा ने कहा—गौओं का कल्याण हो। यह तब कहा जब हिंसा प्रवृत्त हो रही थी[1]। जैन साहित्य में मिलता है कि ऋषभ पुत्र भरत के द्वारा वेदों की रचना हुई थी। उन मे हिंसा का विधान नहीं था। बाद में कुछ व्यक्तियों द्वारा उन में हिंसा के विधान कर दिये गये। इस विषय में महाभारत की भी सहमति है कि वेदों में पहले हिंसात्मक विधान नहीं थे। वहाँ लिखा है—सुरा, आसव, मधु, मांस, मछली, तिल और चावल की खिचड़ी—इन सब वस्तुओं को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है। वेदों में इन के उपयोग का विधान नहीं है। उन धूर्तों ने अभिमान, मोह, और लोभ के वशीभूत हो कर उन वस्तुओं के प्रति अपनी लोलुपता ही प्रकट की है[2]।

जैन साहित्य का उल्लेख है—ऋषभ पुत्र भरत द्वारा स्थापित ब्राह्मण स्वाध्यायलीन थे। फिर बाद में उन का स्थान लालची ब्राह्मणों ने ले लिया। महाभारत में भी ऐसा उल्लेख मिलता है। वहाँ लिखा है—'प्राचीन काल के ब्राह्मण सत्य-यज्ञ और दम-यज्ञ का अनुष्ठान करते थे। वे परम पुरुषार्थ—मोक्ष के प्रति लोभ रखते थे। उन्हें धन की प्यास नहीं रहती थी। वे उस से सदा तृप्त थे। वे प्राप्त वस्तु का त्याग करने वाले और ईर्ष्या-द्वेष से रहित थे। वे शरीर और आत्मा के तत्त्व को जानने वाले और आत्म-यज्ञ पारायण थे। वे ब्राह्मण वेद के अध्ययन में तत्पर रहते थे। स्वयं सन्तुष्ट थे और दूसरों को सन्तोष की शिक्षा देते थे।'[3]

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय२६५। श्लोक २-३
छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम्।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः॥
स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम्।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता॥

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक ६-१०
सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्द वेदेषु कल्पितम्॥

३. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय २६३, श्लोक १८-२१

वैश्य तुलाधार ने उक्त बात ब्राह्मण ऋषि जाजलि से कही। इस में उस प्राचीन परम्परा की सूचना है जिस के अनुयायी ब्राह्मण भी अहिंसा-प्रधान थे।

आत्म-यज्ञ

नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर—इन चार तीर्थंकरों के काल में हिंसा-पूर्ण यज्ञ का प्रतिरोध होता रहा। हिंसा के जो संस्कार सुदृढ़ हो गये थे, वे एक साथ ही नहीं टूटे। उन्हें टूटते-टूटते लम्बा समय लगा।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हिंसक यज्ञ के विरोध में आत्म-यज्ञ का स्वर प्रबल हो उठा था। श्रीकृष्ण, जो अरिष्टनेमि के चचेरे भाई थे, आत्म-यज्ञ के प्रतिपादन में बहुत प्रयत्नशील थे। अरिष्टनेमि और कृष्ण दोनों के समवेत प्रयत्न ने जो विशेष स्थिति का सूत्रपात किया, उस का परिणाम भगवान् महा-वीर और बुद्ध के अस्तित्वकाल में संदृष्ट हुआ।

राजा विचरन्नु का वह स्वप्न साकार हो उठा—'धर्मात्मा मनु ने सब कामों में अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बाह्य वेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं। विद्वान् पुरुष प्रमाण के द्वारा धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय करें। अहिंसा सब धर्मों में ज्येष्ठ है। यह जान वेद की फल-श्रुतियों—काम्य कर्मों का परित्याग कर दें। सकाम कर्मों के आचरण को अनाचार समझ उन में प्रवृत्त न हों।[१]

उञ्छ वृत्ति ऋषि के यज्ञ में धर्म ने मृग का रूप धारण कर यही कहा था—अहिंसा ही पूर्ण धर्म है। हिंसा अधर्म है।[२]

■

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २६५, श्लोक ५-७

२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय २७२, श्लोक २०
अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथाहितः।

जैन धर्म के पूर्वज नाम

वातरशन श्रमण

जैन-धर्म इतिहास के आलोक में अढ़ाईस-सौ वर्ष पुराना है। पर साहित्य के आलोक में वह और हजारों-हजारों वर्ष पुराना है। वह श्रमण परम्परा का प्राचीनतम रूप है। वह विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिहित होता रहा है। वैदिककाल से आरण्यक काल तक वह वातरशन मुनि या वातरशन श्रमणों के धर्म के नाम से विश्रुत रहा है। ऋग्वेद में वातरशन मुनि का उल्लेख मिलता है[१]—

'मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।'

तैत्तिरीय आरण्यक में केतु, अरुण और वातरशन ऋषियों की स्तुति की गयी है[२]—

'केतवो अरुणासश्च ऋषयो वातरशनाः।
प्रतिष्ठां शतधा हि समाहितासो सहस्रधायसम्।'

आचार्य सायण के अनुसार केतु, अरुण और वातरशन ये तीनों ऋषि-संघ थे। वे अप्रमत्त थे[3]। इन की उत्पत्ति प्रजापति से हुई थी। प्रजापति में सृष्टि-रचना की कामना उत्पन्न हुई। उस ने तप तपा—सृष्टि-रचना के लिए पर्यालोचना की। शरीर को प्रकम्पित किया। उस प्रकम्पित शरीर के मांस से तीन

---

१. ऋगवेद संहिता, १०।११।१३६।२

२. तैत्तिरीय आरण्यक, १।२१।३,१।२४,१।३१।६

३. वही, १।२१।३, भाष्य :
केरवरुणवातरशनशब्दा ऋषिसंघानाचक्षते। ते सर्वेऽपि ऋषिसंघाः समाहितासोऽप्रमत्ताः सन्तः,···उपदधतु।

ऋषि उत्पन्न हुए—अरुण, केतु और वातरशन। उस के नखों से वैखानस और बालों से बालखिल्य मुनि उत्पन्न हुए।[1]

इस सृष्टि-क्रम में सर्व-प्रथम ऋषियों की उत्पत्ति बतलायी गयी है। इस से स्पष्ट है कि यह धार्मिक-सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम है। जैन-साहित्य के सन्दर्भ में इस उत्पत्ति-क्रम की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—'भगवान् ऋषभ जब दीक्षित हुए तब उन के साथ-साथ चार हजार व्यक्ति दीक्षित हुए थे। भगवान् ऋषभ ६ मास का अनशन स्वीकार कर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हो गये[2]। कुछ दिनों तक अन्य मुनि भगवान् की प्रतीक्षा करते रहे। भगवान् कुछ नहीं बोले तब वे भूख-प्यास से संत्रस्त हो वल्कलधारी तापस, परिव्राजक आदि हो गये[3]। भगवान् के पौत्र मरीचि से योग-शास्त्र और सांख्य-शास्त्र का प्रवर्तन हुआ[4]। भगवान् ऋषभ ने धर्म-सृष्टि की रचना की, उस के साथ-साथ अनेक संघ सृष्ट

---

१. वही १।२३।२,३ :
स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। शरीरमधूनुत।
तस्य यन्मासमासीत्। ततोऽरुणाः केतवो वातरशना।
ऋषय उदतिष्ठन्। ये नखाः। ते वैखानसाः।
ये बालाः। ते बालखिल्याः।

२. महापुराण १८।२

३. महापुराण १८।५५–५६ :
केचिद् वल्कलिनो भूत्वा फलान्यखादन् पशुः पयः।
परिधाय परिजीर्णं कौपीनं चक्रुरीप्सितम्॥
अपरे भस्मनोद्गुण्ठ्य स्वान् देहान् जटिनोऽभवन्।
एकदण्डधराः केचित् केचिच्चासंस्त्रिदण्डिनः॥
प्राणैरार्तास्तदेत्यादि वेषैर्वृतिरे चिरम्।
वन्यैः कशिपुभिः स्वच्छैः जलैः कन्दादिभिश्च ते॥
भरताद् बिभ्यतां तेषां देशत्यागः स्वतोऽभवत्।
ततस्ते वनमाश्रित्य तस्थुस्तत्र कृतोटजाः॥
तदा संस्तापसाः पूर्वं परिव्राजश्च केचन।
पाषण्डिनां ते प्रथमे बभूवुर्मोहदूषिताः॥

४. वही १८।६१–६२ :
मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूय मास्थितः।
तदुपज्ञमभूद् योग-शास्त्रं तन्त्रं च कापिलम्॥
येनायं मोहितो लोकः सम्यग्ज्ञानपराङ्मुखः।

हो गये। यद्यपि वे सब भगवान् के प्रति श्रद्धानत थे, फिर भी उन का सीधा सम्बन्ध उन से नहीं रहा। उन की परम्परा वातरशन श्रमणों से ही सम्बद्ध रही।[1]

श्रीमद्भागवत से इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि वातरशन श्रमणों के धर्म का प्रवर्तन भगवान् ऋषभ ने किया था—'धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावततार[2]।'

भगवान् ऋषभ के नौ पुत्र भी वातरशन श्रमण बने थे[3]—

'नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः॥'

तैत्तिरीय आरण्यक का निरूपण रूपक की भाषा में है। प्रजापति का शरीर-प्रकम्पन, उस के शरीर-मांस से अरुण, केतु और वातरशन ऋषियों की उत्पत्ति, इस का अर्थ महापुराण और श्रीमद्भागवत के सन्दर्भ में यह होता है कि भगवान् ऋषभ तपस्या के बाद जब गतिशील बने तब अनेक ऋषि-संघों की सृष्टि हुई। इन से यह स्वतः फलित होता है कि श्रीमद्भागवत का ऋषभ ही तैत्तिरीय आरण्यक का प्रजापति है।

प्रारम्भ में अरुण और केतु भी ऋषभ के शिष्य रहे हैं—यह मानना निराधार नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक १।२५।१ में आरुण को स्वयम्भू बताया गया है—'आरुणः स्वयम्भुवः।'

महापुराण (१८।६०) में भी यही लिखा है कि उस समय स्वयम्भू ऋषभ को छोड़ कर अन्य किसी को देव नहीं माना जाता था—'न देवतान्तरं तेषामासीन्मुक्त्वा स्वयम्भुवम्।' जो व्यक्ति आरुण-केतुक अग्नि का चयन करता है, उस के लिए जल भी अहिंसनीय है—

'अघातुका आपः। य एतमग्नि चिनुते[4]।'

---

१. वही, १८।६०
२. श्रीमद्भागवत ५।३।२०
३. श्रीमद्भागवत ११।२।२०
४. तैत्तिरीय आरण्यक १।२६।७

भाष्य—'य एतमारुणकेतुकमग्नि चिनुते यश्चैवं वेद तमेनं प्रत्योदकान्युदकवर्तीनि मीनादीनि, अघातुकानि अहिंसकानि भवन्ति। आपोप्यघातुकाः उदक-मरणं न भवेदित्यर्थः[1]।'

अहिंसा की इस सूक्ष्म धारणा से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि आरुण और केतु ऋषिगण भी प्रारम्भ में ऋषभ से सम्बन्धित थे। किन्तु अन्त तक जैन-धर्म के पूर्वज के रूप में वातरशन श्रमण हो थे। वे ऊर्ध्वमन्थी हो गये थे। 'व्रात्य' शब्द भी वातरशन शब्द का सहचारी रहा है।[2]

आर्हत, निर्ग्रन्थ और जैन

जैन धर्म का दूसरा मुख्य नाम 'आर्हत' रहा है। भगवान् अरिष्टनेमि से पहले ही यह प्रचलित हो गया था। भगवान् अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में प्रत्येक बुद्ध भी अर्हत् कहलाते थे[3]।

पद्मपुराण[4] और विष्णुपुराण[5] में भी धर्म के लिए आर्हतधर्म का प्रयोग मिलता है।

> आर्हतं सर्वमेतच्च मुक्तिद्वारमसंवृतम्।
> धर्माद् विमुक्तेरर्होऽयं नैतस्मादपरः परः॥

मत्स्यपुराण[6] में जिन-धर्म और देवीभागवत[7] में जैन-धर्म के ये नाम व्यवहृत हुए हैं।

> गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः।
> जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित्॥
> छद्मरूपधरं सौम्यं बोधयन्तं छलेन तान्।
> जैनधर्मकृतं स्वेन यज्ञनिन्दापरं तथा॥

---

१. तैत्तिरीयआरण्यक, १।२६।७, भाष्य—

२. वही २।७।१ :
वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः।

३. इसिभासिय १–२० :

४. पद्मपुराण १३।३५० :

५. विष्णुपुराण ३।१८।१२ :

६. मत्स्यपुराण ४।१३।५४ :

७. देवीभागवत ४।१३।५४ :

वैदिक और पौराणिक साहित्य में निर्ग्रन्थ धर्म के रूप में जैन-धर्म का उल्लेख नहीं हुआ है।

आचार्य सायण ने अपने भाष्य में एक स्थान पर निर्ग्रन्थ सम्बन्धी एक वाक्य उद्धृत किया है[1]—'कन्थाकौपीनोत्तरासङ्गादीनां त्यागिनो यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः—इति संवर्तश्रुतिः।'

जबालोपनिषद् में भी निर्ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है।

आर्हत शब्द की मुख्यता भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थ तक रही। भगवान् महावीर के तीर्थकाल में निर्ग्रन्थ शब्द प्रधान हो गया। महावीरकालीन साहित्य में मुख्यतया 'निग्गंथं पावयणं'—'निग्रन्थ-प्रवचन' का ही मुख्य निर्देश मिलता है। बौद्ध-साहित्य में भगवान् महावीर को 'निग्गंठ नायपुत्त' कहा गया है। जैन-श्रमणों के लिए बार-बार 'निग्गंठ' शब्द का प्रयोग किया गया है। अशोक के शिलालेख में भी 'निग्गंठ' का उल्लेख मिलता है—'इमे वियापटा होहंति ति निग्गंठेसु पि मे कटे।'[2]

जैन-आगमों में—'सोच्चाणं जिण-सासणं',[3] 'अणुत्तरं धम्म मिणं जिणाणं',[4] 'जिणमय[5]', 'जिणवयण[6]', जैसे प्रयोग मिलते हैं, किन्तु जैन-धर्म जैसा स्पष्ट प्रयोग नहीं मिलता। भगवान् महावीर के बाद आठ गणधरों या आचार्यों तक निर्ग्रन्थ शब्द मुख्य रहा[7] 'श्री सुधर्मस्वामिनोष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्थाः साधवोऽनगारा इत्यादि सामान्यार्थाभिधायिन्याख्यासीत्'

दिगम्बर-श्वेताम्बर बीज प्रस्फुटित हुए तब से भिन्न-भिन्न गच्छों की स्थापना होने लगी। 'निर्ग्रन्थ' शब्द गौण हो गया और 'जैन' शब्द प्रधानतया प्रयुक्त होने लगा।

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक १०।६३, भाग-२, पृष्ठ ७७८ :
२. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १६ :
३. दशवैकालिक ८।२५ :
४. सूत्रकृतांग
५. दशवैकालिक६।३।१५
६. उत्तराध्ययन ३६।२६०
७. पट्टावलि समुच्चय तपागच्छ पट्टावलि, पृ० ४५

विशेषावश्यक भाष्य में 'जैन तीर्थ', 'जैन समुद्घात' आदि प्रयोग प्राप्त होते हैं[1]।

इस मध्यकाल में 'आर्हत' और 'निर्ग्रन्थ धर्म' का प्रयोग गौण रूप में होने लगा, 'जैन-धर्म' का प्रयोग प्रधान बन गया।

■

---

१. क. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १०४३; जेणं तित्थं।
ख. वही गाथा १०४५, १०४६ : तित्थं—जइणं।
ग. वही, गाथा ३८३ : जइण समुग्घायगईए।

जैन-दर्शन और वेदान्त

दर्शन मनुष्य का दिव्य-चक्षु है। मनुष्य अपने चर्म-चक्षु से जो नहीं देख सकता, वह दर्शन-चक्षु से देख सकता है। सत्य जितना विराट् है उतना ही आवृत है। अनेक दर्शनों ने समय-समय पर उसे निरावृत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने जो देखा वह दर्शन बन गया। अनेक द्रष्टा हुए हैं इसलिए अनेक दर्शन हैं। उन में से दो दर्शन ये हैं—जैन और वेदान्त। जैन द्वैतवादी हैं और वेदान्त अद्वैतवादी।

जैन-दर्शन और विश्व

जैन-दर्शन के अनुसार यह विश्व छह द्रव्यों का समुदाय है।

धर्म—गति सहायक द्रव्य।
अधर्म—स्थिति सहायक द्रव्य।
आकाश—अवगाहदायक द्रव्य।
काल—परिवर्तन हेतु द्रव्य।
पुद्गल—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णात्मक द्रव्य।
जीव—चेतनात्मक द्रव्य।

१. इनमें जीव चेतन है, शेष पाँच अचेतन हैं।
२. पुद्गल मूर्त है, शेष पाँच अमूर्त हैं।
३. धर्म, अधर्म और आकाश व्यक्तिशः एक हैं, शेष तीन व्यक्तिशः अनन्त हैं।
४. धर्म, अधर्म और आकाश व्यापक हैं, जीव और पुद्गल अव्यापक।

जीव दो प्रकार के होते हैं—१. बद्ध, २. मुक्त।

बद्ध जीव अपने देह के परिमाण में व्याप्त रहता है। मुक्त जीव जिस देह को छोड़कर मुक्त होता है, उस के एक तिहाई कम $\frac{1}{3}$ आकाश में व्याप्त रहता है।

पुद्गल दो प्रकार के होते हैं—१. परमाणु, २. स्कन्ध—परमाणु समुदाय। परमाणु आकाश के एक प्रदेश (अविभाज्य-अवयव) में व्याप्त रहता है।

स्कन्ध अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे—

द्वि-प्रदेशी—दो परमाणुओं का स्कन्ध।

त्रि-प्रदेशी—तीन परमाणुओं का स्कन्ध।

इस प्रकार संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्ध होते हैं। ये स्कन्ध आकाश के एक प्रदेश से लेकर असंख्यात प्रदेशों तक व्याप्त होते हैं। अनन्त प्रदेशी स्कन्ध असंख्य प्रदेशों में व्याप्त हो जाता है।

जितने प्रदेशों का स्कन्ध होता है वह उतने ही आकाश प्रदेशों में व्याप्त हो जाता है और सूक्ष्म परिणति होने पर वह एक आकाश-प्रदेश में भी व्याप्त हो जाता है।

काल अव्यापक और व्यापक दोनों है। उस के दो प्रकार हैं—१. व्यावहारिक—सूर्य-चन्द्र, आदि की क्रिया से नापा जाने वाला। २. नैश्चयिक—परिवर्तन का हेतु।

व्यावहारिक काल सिर्फ़ मनुष्य-लोक में होता है। नैश्चयिक-काल लोक और अलोक दोनों में होता है।

५. धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव में प्रदेशों (अवयवों) का विस्तार है, इसलिए वे अस्तिकाय हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार काल के अवयव नहीं हैं, वह औपचारिक या द्रव्य का पर्याय मात्र है। इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है—विस्तार वाला नहीं है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार काल अणुरूप है, इसलिए वह विस्तार शून्य है।

६. धर्म, अधर्म और आकाश गतिशून्य हैं, जीव और पुद्गल गतिमान।

७. धर्म, अधर्म और आकाश में केवल सजातीय परिवर्तन होता है। जीव और पुद्गल में सजातीय और विजातीय—दोनों परिवर्तन होते हैं।

विश्व अनादि अनन्त है। फलतः सब द्रव्य अनादि-अनन्त हैं। जीव और पुद्गल में विजातीय परिवर्तन होते हैं—वे एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चले जाते हैं, इसलिए वे सादि-सान्त भी हैं। यह जीव और पुद्गल का विजातीय परिवर्तन ही सृष्टि है। वह सादि-सान्त है।

साधना-पथ

काल, पुरुषार्थ आदि समवायों का परिपाक होने पर जीव में आत्मस्वरूप को उपलब्ध करने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उस की पूर्ति के लिए वह प्रयत्न करता है और क्रमशः विजातीय परिवर्तन के हेतुओं (पुण्य, पाप और आश्रव) का निरोध (संवर) व क्षय (निर्जरा) कर मुक्त हो जाता है—आत्मस्थ हो जाता है।

मोक्ष के साधन तीन हैं—

१. सम्यक्-दर्शन।

२. सम्यग्-ज्ञान।

३. सम्यग्-चारित्र।

कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है, आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है।

प्रमाण और नयवाद

विश्व और सृष्टि की प्रक्रिया जानने के लिए जैन आचार्यों ने अनेकान्त दृष्टि की स्थापना की। उन का अभिमत था कि द्रव्य अनन्त-धर्मात्मक है। उसे एकान्त दृष्टि से नहीं जाना जा सकता। उसे जानने के लिए अनन्त दृष्टियाँ चाहिए। उन सब दृष्टियों के सकल रूप को प्रमाण और विकल रूप को नय कहा जाता है। प्रमाण दो हैं—

१. प्रत्यक्ष—आत्मा को द्रव्य का किसी माध्यम के बिना सीधा ज्ञान होना।

२. परोक्ष—आत्मा को द्रव्य का इन्द्रिय आदि के माध्यम से ज्ञान होना।

नय सात हैं—

१. नैगम—संकल्प या कल्पना की अपेक्षा से होने वाला विचार।

२. संग्रह—सत्ता की अपेक्षा से होने वाला विचार।

३. व्यवहार—व्यक्ति की अपेक्षा से होने वाला विचार।

४. ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होने वाला विचार।

५. शब्द—यथाकाल, यथाकारक शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

६. समभिरूढ़—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

७. एवम्भूत—व्यक्ति के कार्यानुरूप शब्द प्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार। वस्तु विज्ञान की दृष्टि से वस्तु द्रव्य-पर्यायात्मक है। इस के आधार पर दो दृष्टियाँ बनती हैं—

१. निश्चय—द्रव्य-स्पर्शी नय।

२. व्यवहार—पर्याय या विस्तार स्पर्शी नय।

पहली अभेद प्रधान दृष्टि है और दूसरी भेद प्रधान। यह विश्व न अभेदात्मक है और न भेदात्मक, किन्तु उभयात्मक है।

वेदान्त और विश्व

शंकराचार्य के शब्दों में जो सदा समरूप होता है वही सत्य है। विश्व के पदार्थ परिवर्तनशील हैं—सदा समरूप नहीं हैं, इसलिए वे सत्य नहीं हैं। ब्रह्म सदा समरूप है, तीनों कालों (भूत, वर्तमान और भविष्य) तथा तीनों दशाओं (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) में एक रूप है इसलिए वह सत्य है। फलित की भाषा में ब्रह्म सत्य है, जगत् असत्य है।

सत्य त्रिकालाबाधित होता है, इसलिए वह पारमार्थिक सत्ता है। असत्य के दो रूप हैं—

१. व्यावहारिक—नाम रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता।

२. प्रातिभासिक—रज्जु में सर्प की सत्ता।

जगत् के विकारात्मक पदार्थ व्यवहार काल में सत्य होते हैं, किन्तु वे ब्रह्मानुभव के द्वारा बाधित हो जाते हैं, इसलिए व्यावहारिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं हैं।

रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि प्रतीतिकाल में सत्य प्रतिभासित होते हैं, किन्तु उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा वे बाधित हो जाते हैं, इसलिए प्रातिभासिक पदार्थ पारमार्थिक सत्य नहीं हैं।

व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थ त्रिकालाबाधित नहीं होने के कारण पारमार्थिक सत्य नहीं हैं, किन्तु वे आकाश-कुसुम की भाँति निराश्रय नहीं हैं, इसलिए सर्वथा असत्य भी नहीं हैं।

वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—

१. आवरण-शक्ति।

२. विक्षेप-शक्ति।

आवरण-शक्ति भेद-बुद्धि उत्पन्न करती है, इसलिए संसार का कारण है। इसी शक्ति के प्रभाव से मनुष्य में 'मैं कर्त्ता हूँ', 'भोक्ता हूँ', 'सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ'—आदि-आदि भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। तमःप्रधान विशेष शक्ति युक्त तथा अज्ञान घटित चैतन्य से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई।

इन सूक्ष्म भूतों से सूक्ष्म शरीर और स्थूल भूतों की उत्पत्ति हुई। सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव होते हैं—

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण; बुद्धि—अन्तःकरण की निश्चयात्मिका प्रवृत्ति; मन—अन्तःकरण की संकल्प-विकल्पात्मिका प्रवृत्ति; पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ; पाँच वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान।

तीन प्रकार के कोश—ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहा जाता है। यही व्यावहारिक जीव है। ज्ञानेन्द्रिय सहित मन को मनोमय कोश कहा जाता है। कर्मेन्द्रिय सहित पाँच वायुओं को प्राणमय कोश कहा जाता है। विज्ञानमय कोश ज्ञान-शक्तिमान् है। वह कर्त्ता है। मनोमय कोश इच्छा-शक्ति रूप है। वह करण (साधन) है। प्राणमय कोश क्रिया-शक्तिमान् है। वह कार्य है। इन तीनों कोशों का मिलित रूप सूक्ष्म शरीर है।

साधना-पथ

वेदान्त के आचार्यों के अनुसार जीव में तीन अज्ञानगत शक्तियाँ होती हैं। प्रथम शक्ति से अभिभूत जीव प्रपंच को पारमार्थिक मानता है। वेदान्त के ज्ञान

से जब प्रथम अज्ञान-शक्ति क्षीण होती है तब वह दूसरी अज्ञान-शक्ति के उदित होने पर प्रपंच को व्यावहारिक मानता है। ब्रह्म साक्षात्कार होने पर जब दूसरी अज्ञान-शक्ति भी क्षीण हो जाती है तब वह तीसरी अज्ञान-शक्ति के कारण प्रपंच को प्रतिभासित मानता है। तीसरी अज्ञान शक्ति बन्ध-मोक्ष के साथ-साथ क्षीण होती है। उस के साथ प्रपंच को प्रतिभासित मानना भी समाप्त हो जाता है। फलित की भाषा में प्रपंच को व्यावहारिक प्रगति व प्रातिभासिक मानना बन्ध-मुक्ति की प्रक्रिया है। जीव जब तक बन्ध-दशा में रहता है तब तक वह 'ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है'—इसे जानते हुए भी व्यावहारिक या प्रातिभासिक प्रतीति से मुक्त नहीं हो सकता।

वेदान्त के अनुसार साधना के तीन साधन हैं—

१. श्रवण—वेदान्त के वचनों को आचार्य के मुख से सुनना।

२. मनन—श्रुत विषय पर तर्क-बुद्धि से मनन करना।

३. निदिध्यासन—मनन किये हुए विषय पर सतत चिन्तन करना।

ऐसा करते-करते आत्मा और ब्रह्म की एकता का बोध सुदृढ़ हो जाता है और अन्त में साधक को मोक्ष उपलब्ध हो जाता है।

प्रमाणवाद

पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं के सम्यग् ज्ञान के लिए वेदान्त पाँच प्रमाण मान्य करता है—

१. प्रत्यक्ष
२. अनुमान
३. उपमान
४. आगम
५. अर्थापत्ति

तुलनात्मक मीमांसा

जैन दर्शन के द्वारा दो सत्ताएँ स्वीकृत हैं—

१. पारमार्थिक

२. व्यावहारिक

वेदान्त के द्वारा तीन सत्ताएँ स्वीकृत हैं—

१. पारमार्थिक

२. व्यावहारिक

३. प्रातिभासिक

जैन दर्शन के अनुसार चेतन और अचेतन दोनों पारमार्थिक सत्य हैं—दोनों की वास्तविक सत्ता है। जैन दर्शन अचेतन जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करता है, इसलिए वह यथार्थवादी है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। वह एक है। शेष जो नानात्व है, वह वास्तविक नहीं है। वेदान्त दर्शन ब्रह्म से भिन्न जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह आदर्शवादी है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन में अचेतन की और अचेतन में चेतन की संज्ञा करना मिथ्या-दर्शन है और चेतन में चेतन की और अचेतन में अचेतन की संज्ञा करना सम्यग्-दर्शन है।

आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार चेतन या ब्रह्म से भिन्न अचेतन की सत्ता स्वीकार करना मिथ्या-दर्शन है और ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्य मानना सम्यग्-दर्शन है।

जैन-दर्शन का द्वैतवाद

वेदान्त के अनुसार जैसे एकत्व पारमार्थिक और प्रपंच (या नानात्व) व्यावहारिक हैं वैसे ही अनेकान्त की भाषा में कहा जा सकता है कि द्रव्यत्व पारमार्थिक और पर्यायत्व (या विस्तार) व्यावहारिक है। शाश्वत सत्ता चेतन है। मनुष्य तिर्यंच आदि उस के विस्तार हैं। वे शाश्वत नहीं हैं, मनुष्य शाश्वत नहीं है इसीलिए वह पारमार्थिक नहीं है। एक ही चेतन के अनन्त रूपों में मनुष्य एक रूप है, जो उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है। उस के उत्पन्न या विलीन होने पर भी चेतन चेतन नहीं रहता है, इसलिए वह पारमार्थिक है।

पारमार्थिक सत्ता को जानने वाली दृष्टि को निश्चय नय और व्यावहारिक

सत्ता को जानने वाली दृष्टि को व्यवहार नय कहा जा सकता है। निश्चय नय के अनुसार विश्व के मूल में दो तत्त्व हैं, चेतन और अचेतन। यह नय पर्याय या विस्तार को मौलिक तत्त्व नहीं मानता। वेदान्त प्रपंच को व्यावहारिक या प्रातिभासिक ही मानता है, उस का हेतु यही है कि वह जाति के मूल तत्त्व की व्याख्या केवल निश्चय नय से करता है। जैन दर्शन के अनुसार विस्तार मिथ्या या असत् नहीं है। सत् के तीन अंश हैं—

१. ध्रौव्य

२. उत्पाद्

३. विनाश

ध्रौव्य शाश्वत अंश है। उत्पाद और विनाश अशाश्वत अंश है। ध्रौव्य एक है और उत्पाद-विनाश अनेक हैं। ध्रौव्य संक्षेप है और उत्पाद-विनाश विस्तार है। ध्रौव्य की व्याख्या निश्चय नय से की जाती है और उत्पाद-विनाश की व्याख्या व्यवहार नय से। ध्रौव्य से भिन्न उत्पाद-विनाश और उत्पाद-विनाश से भिन्न ध्रौव्य कभी और कहीं भी नहीं मिलता। जहाँ ध्रौव्य है वहीं उत्पाद-विनाश है और जहाँ उत्पाद-विनाश है वहीं ध्रौव्य है। इसलिए ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश—ये तीनों सत् के अपरिहार्य अंश हैं। वेदान्त यह कब मानता है कि मूल से भिन्न विस्तार और विस्तार से भिन्न मूल है। मूल और विस्तार दोनों सर्वत्र सम व्याप्त हैं।

वेदान्त विस्तार को मिथ्या या असत् मानता है और जैन-दर्शन उसे अनित्य मानता है। अनित्य अन्तिम सत्य नहीं है, इस दृष्टि से वेदान्त अनित्य को मिथ्या मानता है। अनित्य अन्तिम सत्य की परिधि से बाहर नहीं है, इस दृष्टि से जैन-दर्शन अनित्य को सत् का अंश मानता है, दोनों में जितना भाषा-भेद है उतना तात्पर्य-भेद नहीं है।

स्याद्वाद और क्या है, भाषा के आवरण में जो सत्य छिपा रहता है, उसे अनावृत करने का जो प्रबल माध्यम है वही तो स्याद्वाद है। स्याद्वाद की भाषा में कोई भी दर्शन सर्वथा द्वैतवादी या सर्वथा अद्वैतवादी नहीं हो सकता। सत्ता की दृष्टि से विश्व एक है। सत्ता से भिन्न कुछ भी नहीं है, इसलिए वह एक है। इस व्याख्या पद्धति को जैन-दर्शन संग्रह नय कहता है।

जगत् की व्याख्या एक ही नय से नहीं की जा सकती। दृश्य जगत् की वास्तविकता को भ्रान्ति मानकर झुठलाया नहीं जा सकता। इस दृष्टि से विश्व अनेक भी है। विस्तार की व्याख्या-पद्धति को जैन-दर्शन व्यवहार नय कहता है।

सत्य की व्याख्या—इन दोनों नयों से ही की जा सकती है। निश्चय नय से इस सत्य का रहस्योद्‌घाटन होता है कि विश्व के मूल में अभेद की प्रधानता है और व्यवहार नय से इस सत्य की व्याख्या होती है कि विश्व के विस्तार में भेद की प्रधानता है।

जैन-दर्शन द्रव्य और पर्याय (मूल और विस्तार) को सर्वथा एक नहीं मानता इस दृष्टि से ही द्वैतवादी नहीं है किन्तु वह इस दृष्टि से द्वैतवादी है कि वह विश्व के मूल में चेतन और अचेतन का भिन्न-भिन्न अस्तित्व स्वीकार करता है। वह इस अर्थ में बहुत्ववादी भी है कि उस के अनुसार जीव और परमाणु व्यक्तिशः अनन्त हैं। जब हम नित्यता से अनित्यता की ओर तथा अशुद्धता (विस्तार) से शुद्धता (मूल) की ओर बढ़ते हैं तब हमें अभेद-प्रधान विश्व की उपलब्धि होती है और जब हम नित्यता से अनित्यता की ओर तथा शुद्धता से अशुद्धता की ओर बढ़ते हैं तब हमें भेद-प्रधान विश्व उपलब्ध होता है। जो दर्शन एकान्त दृष्टि से देखता है, उसे एक सत्य लगता है और दूसरा मिथ्या। वेदान्त की दृष्टि में भेदात्मक विश्व मिथ्या है और बौद्ध दर्शन की दृष्टि में अभेदात्मक विश्व मिथ्या है। जैन-दर्शन अनेकान्तवादी है इसलिए उस की दृष्टि में विश्व के दोनों रूप सत्य हैं।

इस उभयात्मक सत्य की स्वीकृति वेदान्त के प्राचीन आचार्यों ने भी की है। भर्तृप्रपंच भेदाभेदवादी थे। उन का अभिमत है कि ब्रह्म अनेकात्मक है। जैसे वृक्ष अनेक शाखाओं वाला होता है वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्ति व प्रवृत्ति युक्त है। इसलिए एकत्व और नानात्व दोनों ही सत्य हैं—पारमार्थिक हैं। 'वृक्ष' यह एकत्व है। 'शाखाएँ' यह अनेकत्व है। 'समुद्र' यह एकत्व है। 'उर्मियाँ' यह अनेकत्व है। 'मृत्तिका' यह एकत्व है। 'घड़ा' आदि अनेकत्व हैं। एकत्व अंश के ज्ञान से कर्मकाण्डाश्रित लौकिक और वैदिक व्यवहारों की सिद्धि होगी।

शंकराचार्य ने भर्तृप्रपंच को मान्यता नहीं दी पर उन्होंने नानात्व को भी मृगमरीचिका की भाँति सर्वथा असत्य नहीं माना।

भाषा के आवरण में जैन और वेदान्त के साधना-पथ भिन्न-भिन्न लगते हैं किन्तु तात्पर्य की दृष्टि से उन में विशेष भिन्नता नहीं है। आत्मा का श्रवण, मनन और साक्षात्कार—यह वेदान्त की साधना-विधि है और जैन-दर्शन की साधना विधि है—आत्म-दर्शन, आत्म-ज्ञान और आत्म-रमण।

वेदान्त ज्ञानमार्गी है। जैन-दर्शन ज्ञानमार्गी भी है और कर्ममार्गी भी। कोरा ज्ञान-मार्ग और कोरा कर्म-मार्ग दोनों अपूर्ण हैं। परिपूर्ण पद्धति है दोनों का समुच्चय। मोक्ष की उपलब्धि के लिए वे कर्म अप्रयोजनीय हैं, जो आत्म-चिन्तन से शून्य हैं। इस अपेक्षादृष्टि से प्रयोजनीय कर्म आत्म-ज्ञान में समाहित हो जाते हैं। वेदान्त का दृष्टिकोण यही होना चाहिए। जैन-दर्शन इस तथ्य को इस भाषा में प्रस्तुत करता है कि कर्म से कर्म क्षीण नहीं होते, अकर्म से कर्म क्षीण होते हैं। मोक्ष पूर्ण संवर होने पर ही उपलब्ध होता है। पूर्ण संवर अर्थात् कर्म-निवृत्त अवस्था।

जैन-दर्शन का प्रसिद्ध श्लोक है—

'आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्॥'

—'आस्रव (बाह्य-निष्ठा) भव का हेतु और संवर (आत्म-निष्ठा) मोक्ष का हेतु है। अर्हत् की दृष्टि का सार अंश इतना ही है, शेष सारा प्रपंच है।'

वेदान्त के आचार्यों ने भी इन्हीं स्वरों में गाया है—

'अविद्या बन्धहेतुः स्यात् विद्या स्यात् मोक्षकारणम्।
ममेति बध्यते जन्तुः, न ममेति विमुच्यते॥'

—'अविद्या (कर्म-निष्ठा) बन्ध का हेतु है और विद्या (ज्ञान-निष्ठा) मोक्ष का हेतु है।' जिस में ममकार होता है, वह बँधता है और ममकार का त्याग करने वाला मुक्त हो जाता है।

एक दृष्टि में प्रमाण का वर्गीकरण दोनों दर्शनों का भिन्न है। दूसरी दृष्टि में उतना भिन्न नहीं है, जितना कि प्रथम दर्शन में दीखता है। प्रत्यक्ष दोनों-द्वारा सम्मत है। जैन प्रमाणविदों ने परोक्ष प्रमाण के पाँच विभाग किये—१. स्मृति, २. प्रत्यभिज्ञा, ३. तर्क, ४. अनुमान, ५. आगम।

वेदान्त की प्रमाण मीमांसा में अप्रत्यक्ष प्रमाण के विभागों का संग्राहक

कोई शब्द व्यवहृत नहीं हुआ, इसलिए वहाँ अनुमान, उपमान, आगम और अर्था-पत्ति को स्वतन्त्र स्थान मिला।

जैन-दर्शन की प्रमाण मीमांसा में अनुमान आदि के लिए एक परोक्ष शब्द व्यवहृत हुआ, इसलिए वहाँ उन की स्वतन्त्र गणना नहीं हुई। अनुमान और आगम वेदान्त पद्धति में स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में और जैन-पद्धति में परोक्ष प्रमाण के विभाग के रूप में स्वीकृत हैं। वेदान्त के उपमान और जैन के सादृश्य प्रत्यभिज्ञा में कोई अर्थ-भेद नहीं है। अर्थापत्ति का अर्थ है—दृश्य अर्थ की सिद्धि के लिए जिस अर्थ के बिना उस की सिद्धि न हो, उस अदृष्ट अर्थ की कल्पना करना। यदि दृष्ट और अदृष्ट अर्थ की व्याप्ति निश्चित न हो तो यह प्रमाण नहीं हो सकती और यदि उस की व्याप्ति निश्चित हो तो जैन प्रमाणविदों के अनुसार इस में और अनुमान में कोई अर्थ-भेद नहीं होता।

उपसंहार

जैन और वेदान्त दोनों आध्यात्मिक दर्शन हैं इसीलिए इन के गर्भ में समता के बीज छिपे हुए हैं। अंकुरित और पल्लवित दशा में भाषा और अभिव्यक्ति के आवरण मौलिक समता को ढाँक कर उस में भेद किये हुए हैं। भाषा के आवरण को चीर कर झाँक सकें तो हम पायेंगे कि दुनिया के सभी दर्शनों के अन्तस्तल उतने दूर नहीं हैं, जितने दूर उन के मुख हैं। अनेकान्त का हृदय यही है कि हम केवल मुख को प्रमुखता न दें, अन्तस्तल का भी स्पर्श करें।

■

जैन-योग

महर्षि पतंजलि का योगदर्शन भारतीय वाङ्मय की अपूर्व निधि है। उस में साधना का व्यवस्थित प्रतिपादन है। वह किसी भी साधक को अनायास आकृष्ट कर लेता है।

योग-दर्शन की साधना के क्षेत्र में एकार्णव प्रसिद्धि है। इसी लिए जैन विद्वानों के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित होता रहता है कि जैन-परम्परा में योग मान्य है या नहीं ? योगदर्शन जैसा कोई ग्रन्थ है या नहीं ? प्रस्तुत निबन्ध में इन दोनों प्रश्नों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जायेगा।

हिन्दुस्तान में तीन मुख्य धर्म-परम्पराएँ थीं—वैदिक, जैन और बौद्ध। अवान्तर रूप में अन्य भी अनेक परम्पराएँ थीं। उन की अपनी-अपनी साधना पद्धति थी। अष्टांगयोग सांख्यदर्शन की साधना पद्धति है। सभी धर्मों ने अपनी साधना पद्धति को भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया था। जैन-धर्म की साधना-पद्धति का नाम मुक्ति-मार्ग था। उस के तीन अंग हैं—

१. सम्यक्-दर्शन

२. सम्यग्-ज्ञान

३. सम्यक्-चारित्र।

महर्षि पतंजलि के योग की तुलना में इस रत्नत्रयी को जैन योग कहा जा सकता है। यह बहुत स्पष्ट है कि जैन धर्म की साधना-पद्धति में अष्टांगयोग के सभी अंगों की व्यवस्था नहीं है। प्राणायाम, धारणा और समाधि का स्पष्ट स्वीकार नहीं है; यम, नियम, आसन, प्रत्याहार और ध्यान इन का भी योगदर्शन की भाँति क्रमिक प्रतिपादन नहीं है। जैन धर्म की साधना-पद्धति स्वतन्त्र है, इसलिए उस की व्यवस्था भी भिन्न है। उत्तराध्ययन के २८ वें अध्ययन में मुक्ति-

मार्ग का संक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित प्रतिपादन है। उस के २९, ३० व ३२ वें अध्ययन में भी साधना का पथ-निर्देश है। उत्तराध्ययन उत्तरवर्ती आगम है। प्राचीन आगमों में प्रथम आचारांग का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उस में जैन-धर्म की साधना-पद्धति का बहुत सूक्ष्म व मार्मिक प्रतिपादन है। सूत्रकृतांग भगवती व स्थानांग में भी प्रकीर्णरूप से भावना, आसन, ध्यान आदि का निर्देश मिलता है। औपपातिक में तपोयोग का व्यवस्थित प्रतिपादन है। तपोयोग सम्यक् चारित्र का ही एक प्रकार है।

आगम-साहित्य में साधन-तत्त्वों के बीज मिलते हैं। उन का विस्तार और प्रक्रियाएँ प्राप्त नहीं हैं। उन का विलोप कैसे हुआ? यह अभी प्रश्नचिह्न ही बना हुआ है। भद्रबाहु स्वामी ने द्वादशवर्षीय 'महाप्राणध्यान' की साधना की थी। अन्य आचार्यों के विषय में भी 'सर्वसंवरयोगध्यान' की साधना का उल्लेख मिलता है। आगमिक साधना का स्वरूप हमें उपलब्ध है किन्तु उस का विधि-तन्त्र उपलब्ध नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द (विक्रम की प्रथम शताब्दी) ने समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थों की रचना कर जैन-परम्परा में साधना का नया क्षेत्र खोला था। किन्तु मुक्तिमार्ग का समग्रदृष्टि से एक ग्रन्थ में प्रतिपादन करने का श्रेय उमास्वाति (वि० २-३) को ही है। उन का मोक्षमार्ग (तत्त्वार्थ सूत्र) आगम-साहित्य और उत्तरवर्ती साहित्य के मध्य की कड़ी है। उस में मुक्तिमार्ग के अंगों का सविस्तार प्रतिपादन है।

साधना की प्रक्रियाओं का विस्तार हमें निर्युक्ति साहित्य में मिलता है। उस का सांगोपांग वर्णन आवश्यक निर्युक्ति के कायोत्सर्ग-अध्ययन में मिलता है। इस के रचनाकार हैं द्वितीय भद्रबाहु स्वामी और इस का रचना-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी है।

मानसिक एकाग्रता की दूसरी भूमिका ध्यान है। उस का विशद विवेचन जिनभद्र गणी (छठी शताब्दी) के 'ध्यानशतक' में मिलता है। ये दोनों रचनाएँ योगदर्शन तथा हठयोग के अन्य ग्रन्थों से प्रभावित नहीं हैं। इन में जैन परम्परा का स्वतन्त्र चिन्तन परिलक्षित होता है।

पूज्यपाद देवनन्दि (चौथी-पाँचवीं शताब्दी) का 'समाधितन्त्र' आध्यात्मिक

अनुभूतियों का अजस्र स्रोत है। 'इष्टोपदेश' में भी पूज्यपाद ने गहरी डुबकियाँ लगायी हैं। उसे पढ़ने वाला कोई भी व्यक्ति अध्यात्म से तादात्म्य हुए बिना नहीं रह सकता। पूज्यपाद योगानुभूति की परम्परा के आदिस्रोत हैं। बृहत्कल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, मूलाराधना (भगवती आराधना) आदि ग्रन्थों में प्रसंगवश कायोत्सर्ग, ध्यान, आसन आदि की चर्चा मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र की वृत्तियों—श्लोकवार्तिक, भाष्यानुसारिणी आदि में भी विशद चर्चा हुई है।

विक्रम की ८ वीं शताब्दी से जैनयोग में एक नये अध्याय का सूत्रपात होता है। उस के पुरस्कर्त्ता हैं हरिभद्रसूरी। उन्होंने योग की पद्धतियों और परिभाषाओं का जैन पद्धतियों और परिभाषाओं से समन्वय स्थापित कर जैनयोग को नयी दिशा प्रदान की। उन के मुख्य ग्रन्थ हैं—योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, योगशतक और योगविंशिका।

हरिभद्रसूरी का योग-विषयक वर्गीकरण पूर्ववर्ती जैन-साहित्य में प्राप्त नहीं है। अन्य योग-ग्रन्थों से भी उन्होंने उधार नहीं लिया है। जैन और योग परम्परा के संयुक्त प्रभाव से उन्होंने अपने वर्गीकरण की योजना की। उन के अनुसार योग के पाँच प्रकार हैं—

१. अध्यात्म
२. भावना
३. ध्यान
४. समता
५. वृत्तिसंक्षय[1]।

नवीं शती में आचार्य जिनसेन ने 'महापुराण' में यत्र-तत्र योग-साधना का निरूपण किया है। ग्यारहवीं शताब्दी में आचार्य रामसेन ने 'तत्त्वानुशासन' की और आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों में योग के और नये उन्मेष मिलते हैं। इस शताब्दी में जैनयोग, अष्टांगयोग, हठयोग और तन्त्रशास्त्र से अधिक प्रभावित मिलता है। आगमिक युग में धर्म्यध्यान था, वह इस काल में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इन चार रूपों में वर्गीकृत हो गया। इस वर्गीकरण पर तन्त्रशास्त्र का प्रभाव प्रतीत होता है। नवचक्रेश्वर तन्त्र में पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत को जानने वाले को गुरु कहा गया है—

---

१. योगबिन्दु ३१ : "अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
मोक्षेण योजनाद् योगः एष श्रेष्ठो यथोत्तरम्॥"

"पिण्डं पदं तथा रूपं रूपातीतं चतुष्टयम् ।
यो वा सम्यग् विजानाति सगुरुः परिकीर्तितः ॥"

गुरु-गीता में पिण्ड का अर्थ कुण्डलिनी शक्ति, पद का अर्थ हंस, रूप का अर्थ बिन्दु और रूपातीत का अर्थ निरंजन किया गया है—

"पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः ।
रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयं रूपातीतं निरंजनम् ॥

जैन आचार्यों ने पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इस वर्गीकरण को स्वीकार किया किन्तु उन के अर्थ अपनी परिभाषा के अनुसार किये। चैत्य-वन्दन भाष्य में पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपातीत—ये तीन ही प्रकार मान्य किये गये हैं—

"भावेज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थ पयत्थ रूवरहियत्तं ।
छउमत्थ केवलित्तं, सिद्धत्थं चेव तस्सत्थो ॥"

इन का अर्थ भी शेष ग्रन्थों से भिन्न है। भाष्यकार के अनुसार छद्मस्थ (आवृत ज्ञानी), केवली (अनावृत ज्ञानी) और सिद्ध—ये तीन ध्येय हैं। एतद् विषयक ध्यान को क्रमशः पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपातीत कहा जाता है। उस समय ध्यान के इन प्रकारों से जन-मानस बहुत परिचित हो गया था, इसलिए जैन आचार्यों के लिए भी इन का स्वीकार आवश्यक हो गया था, ऐसा प्रतीत होता है।

इसी (ग्यारहवीं) शताब्दी में सोमदेवसूरी ने भी योग के विषय में कुछ लिखा था। उन का योगसार ग्रन्थ बहुत ही मार्मिक है। यशस्तिलकचम्पू के ३९ और ४० वें कल्प में उन्होंने योग विषयक चर्चा प्रशस्त पद्धति से की है। इस शताब्दी के ग्रन्थों में पार्थिवी, वारुणी, तैजसी[1], वायवी और तत्त्वरूपवती (तत्त्वभू) इन पाँच धारणाओं की भी मान्यता मिलती है। तत्त्वानुशासन में केवल तीन धारणाओं का उल्लेख मिलता है।

बारहवीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' की रचना की। उस में

१. तत्त्वानुशासन १८३ : "तत्रादौ पिण्डसिद्धयर्थं निर्मलीकरणाय च
मारुतीं तैजसीमाप्यां विदध्याद्द धारणां क्रमात् ॥"

योग और रत्नत्रयी की एकात्मकता प्रतिपादित हुई है।[1] उस में आचार्य हेमचन्द्र ने योग की पारम्परिक पद्धति का भी निरूपण किया है। स्वानुभव के आधार पर उन्होंने मन के चार रूप निश्चित किये हैं[2]—

१. विक्षिप्त
२. यातायात
३. श्लिष्ट
४. सुलीन

तेरहवीं शताब्दी में पण्डित आशाधरजी की कृति 'अध्यात्म-रहस्य' प्राप्त होती है। ग्रन्थकार ने आध्यात्मिक रहस्यों का व्यवस्थित पद्धति से प्रतिपादन किया है।

पन्द्रहवीं शताब्दी की एक कृति मुनि सुन्दरसूरी की है। उस का नाम 'अध्यात्म कल्पद्रुम' है। इस की शैली प्रक्रियात्मक कम, उपदेशात्मक अधिक है।

अठारहवीं शताब्दी में विनयविजय जी ने 'शान्तसुधारस' की रचना की। भावनायोग की यह सुन्दर कृति है। इसी शताब्दी में उपाध्याय यशोविजय जी ने योग की सरिता प्रबल धारा से प्रवाहित की थी। उन के योग-विषयक अनेक ग्रन्थ मिलते हैं—अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मसार, योगावतार द्वात्रिंशिका। आचार्य हरिभद्र की योगविंशिका पर उन्होंने टीका लिखी।

पातंजल योगसूत्र उन की एक वृत्ति है। उस में जैनयोग का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

वि० २०१८ में आचार्य श्री तुलसी ने 'मनोऽनुशासनम्' लिखा। इस में जैन योग का एक नयी शैली से प्रतिपादन हुआ है।

जैन-योग के विकास और योग-ग्रन्थों का संक्षिप्त आकलन इस निबन्ध में मैंने किया है। सामग्री के अभाव में अनेक ग्रन्थ शेष रह गये हैं। नमस्कार स्वाध्याय,

---

१. योगशास्त्र १।१५ : "चतुर्वर्गेऽग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञानश्रद्धानचारित्र-रूपरत्नत्रं च सः॥"

२. योगशास्त्र १२-२-५

में दो लघुकाय ग्रन्थ प्रकाशित हैं। वे जैनयोग के क्षेत्र में नया आयाम प्रस्तुत करते हैं। 'पासनाहचरियं' में एक २१ गाथाओं की ध्यान सम्बन्धी सुन्दर कृति है। ज्ञानसार, विद्यानुशासन, वैराग्यमणि शास्त्र आदि अनेक ग्रन्थ हैं। मैं अपनी अक्षमता का अनुभव करता हूँ कि इन ग्रन्थों का इस निबन्ध में परिचय प्रस्तुत नहीं कर सका।

■

ध्यान का प्रथम सोपान-धर्म्य-ध्यान

महर्षि पतंजलि ने साधना-पद्धति को इतना व्यवस्थित रूप दिया कि योग पतंजलि का 'स्व' जैसा बन गया। अब हर धर्म-परम्परा के सम्मुख प्रश्न आता है कि आप की परम्परा में योग मान्य है? पातंजल योग सूत्र जैसा कोई ग्रन्थ है? जैन परम्परा को भी इस प्रश्न का उत्तर देना है। कोई भी धर्म है और योग नहीं है, ऐसा जैन आचार्यों को मान्य नहीं है। आचार्य हरिभद्र ने अविकल धर्म-व्यापार को योग मान कर उक्त तथ्य की पुष्टि की है।[1] महर्षि पतंजलि ने योग को एक विशिष्ट अर्थ में स्वीकृत किया है। उन के अनुसार योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध। भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का प्रतिनिधि शब्द संवर है। हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि महर्षि पतंजलि की भाँति किसी जैन आचार्य ने व्यवस्थित ढंग से 'संवर-सूत्र' नहीं लिखा। उमास्वाति का तत्त्वार्थ सूत्र बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। किन्तु वह बहु-विषयग्राही है, उस का सम्बन्ध केवल साधना-पद्धति से नहीं है। उमास्वाति ने संवर-सूत्र की संक्षिप्त रूपरेखा तत्त्वार्थ सूत्र के नवें अध्याय में प्रस्तुत की है। किन्तु योगसूत्र की तुलना में वह अपर्याप्त है।

उमास्वाति ने संवर के आठ हेतु बतलाये हैं[2]—

(१) गुप्ति
(२) समिति
(३) धर्म
(४) अनुप्रेक्षा
(५) परीषह-जय
(६) चारित्र
(७) तप
(८) निर्जरा

---

१. योगविंशिका १ : मौक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वोवि धम्मवावारो।
२. तत्त्वार्थ सूत्र : ९।१-३

इन में सातवाँ हेतु तप है। उस के बारह प्रकार हैं। उन में एक है, ध्यान। साधना की दृष्टि से ध्यान के दो रूप बनते हैं—धर्म्य और शुक्ल। प्रस्तुत निबन्ध में धर्म्य-ध्यान ही विवेचनीय है।

शब्द अर्थ के संवाहक होते हैं, किन्तु उन की कठिनाई यह है कि वे रूढ होने के बाद अपने कलेवर में सिमटी हुई विशाल अर्थात्मा को प्रकट करने में अक्षम हो जाते हैं। उदाहरण के लिए धर्म्य-ध्यान को प्रस्तुत किया जा सकता है।

धर्म्य-ध्यान

महर्षि पतंजलि को समाधि के दो रूप मान्य हैं—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात।[1] असम्प्रज्ञात समाधि में मन अभाव-प्राप्त की भाँति होता है। उस में शब्द, अर्थ आदि बाह्य वस्तुओं का आलम्बन नहीं होता, इसलिए उसे निर्बीज समाधि माना गया है।[2] सम्प्रज्ञात समाधि में अन्तःप्रविष्ट चार समापत्तियों (सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा और निर्विचारा) को सबीज समाधि माना गया है।[3] हरिभद्रसूरि तथा उपाध्याय यशोविजय जी ने सम्प्रज्ञात समाधि की तुलना शुक्ल ध्यान के आद्यवर्ती दो प्रकारों (पृथक्त्व-वितर्क-सविचार और एकत्व-वितर्क-अविचार) से[4] और असम्प्रज्ञात समाधि की तुलना केवलज्ञान से की है।[5]

योगदर्शन में ध्यान और समाधि—ये दो भिन्न-भिन्न माने गये हैं। जैनयोग में इन दोनों को एक ध्यान शब्द के द्वारा ही प्रतिपादित किया गया है। पतंजलि का 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योगदर्शन ३।२) जैनयोग का धर्म्य-ध्यान है और योगदर्शन में प्रतिपादित समाधि जैन योग का शुक्ल ध्यान है। समाधि ध्यान की उत्तरवर्ती अवस्था है। आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म्य और शुक्ल के ध्येय विषय को साधारण बतला कर इसी तथ्य की पुष्टि की है—

१. पातंजल योग दर्शन १।१७,१८
२. वही, भाष्य १।१८
३. वही, १।४६
४. योगबिन्दु ४१८; जैनदृष्ट्या परीक्षित पातंजल योगदर्शन १।१८
५. वही, ४२०

"इति साधारणं ध्येयं ध्यानयोर्धर्मशुक्लयोः ।
विशुद्धिस्वामिभेदेन भेदः सूत्रे निरूपितः ॥" (ज्ञानार्णव ३२।१०४)

महर्षि पतंजलि ने समाधि को विस्तार से समझाया है, किन्तु ध्यान के विषय में उन्होंने बहुत संक्षेप में लिखा है। जैन आचार्यों ने ध्यान के विषय में विस्तार से लिखा है।

धर्म्य-ध्यान का पूर्ण परिकर इस प्रकार है[1]—

ध्येय—(१) आज्ञा-विचय, (२) अपाय-विचय, (३) विपाक-विचय, (४) संस्थान-विचय।

लक्षण—आज्ञा-रुचि, (२) निसर्ग-रुचि, (३) सूत्र-रुचि (४) अवगाढ़-रुचि।

आलम्बन—(१) वाचना (२) प्रतिपृच्छा, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा।

अनुप्रेक्षा—(१) एकत्व, (२) अनित्य, (३) अशरण, (४) संसार।

धर्म या धर्म्य ?

प्राकृत में 'धम्म' शब्द है। उस के संस्कृत रूप दो बन सकते हैं—धर्म और धर्म्य। कुछ आचार्यों ने धर्म-ध्यान शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु अधिकांश आचार्यों ने धर्म्य-ध्यान का प्रयोग किया है। यही संगत है। धर्म्य का अर्थ है धर्म से युक्त।

धर्म्य का हृदय

धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। ध्यान के प्रकरण में उस के चार अर्थ किये गये हैं—

१. वस्तु का स्वभाव[2]

२. क्षमा आदि[3]

---

१. स्थानांग ४।१।२४७

२. तत्त्वार्थ वृत्ति, श्रुतसागर कृत ९।२८
धर्मो वस्तुस्वरूपम्। धर्मादनपेतं धर्म्यम्।

३. तत्त्वार्थ भाष्यानुसारि टीका ९।२९
धर्मः क्षमादि दशलक्षणकः। तस्मादनपेतं धर्म्यम्।
तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ९।३६
धर्मादनपेतं धर्म्यं, तस्य क्षमादि मत एव प्रवृत्तेः।

३. चारित्र[1]

४. अहिंसा[2]

धर्म शब्द के उक्त अर्थों से धर्म्य-ध्यान के दो अर्थ फलित होते हैं—

१. वस्तुधर्माश्रित ध्यान

२. क्षमा आदि धर्माश्रित ध्यान।

इन में दूसरे अर्थ का सम्बन्ध ध्यान से उतना नहीं जितना ध्यान के अधिकारी से है। क्षमा आदि दस [3]धर्मों से सम्पन्न व्यक्ति ही ध्यान का अधिकारी हो सकता है। इस के समर्थन में तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक का पाद-टिप्पणगत वाक्य उद्धृत किया जा सकता है।

धर्म्य-ध्यान के ध्येय चित् और अचित् (जीव और अजीव) दोनों भाव हैं[4], इस लिए प्रथम अर्थ ही धर्म्य-ध्यान की अन्तरात्मा को प्रकट करता है।

ध्येय

धर्म्य-ध्यान के ध्येय असंख्य हो सकते हैं फिर भी जैन-योग में चार बतलाये गये हैं। उत्तरवर्ती ग्रन्थों में इन का विस्तार भी हुआ है। ध्येय को चार भागों में विभक्त करने के पीछे क्या दृष्टि रही है, इस विषय पर बहुत कम पर्यालोचना हुई है। ध्यान ध्येय के साक्षात्कार की प्रक्रिया है। तत्त्वज्ञान की बौद्धिक प्रक्रिया से इस का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण है। धर्म्य-ध्यान की प्रक्रिया में तत्त्व (सत्य) की उपलब्धि के चार माध्यम चुने गये हैं—

(१) शब्द

(२) विश्लेषण

१-२. तत्त्वार्थ वृत्ति, श्रुतसागर कृत ९।३६

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
चारित्तं खलु धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो॥ (कत्ति० अणु० ४७३)
तस्मादुक्तलक्षणाद् धर्मादनपेतमपरिच्युतं ध्यानं धर्म्यमुच्यते।

३. तत्त्वार्थ सूत्र ९।६।

४. ज्ञानार्णव ३१।१८

"आज्ञा जीवादयो भावाः चिदचिल्लक्षलमीताः।
तत स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः॥"

(३) फल या परिणाम
(४) रूप ।

इन्हीं को पारिभाषिक शब्दों में

(१) आज्ञा-विचय
(२) अपाय-विचय
(३) विपाक-विचय
(४) संस्थान-विचय

कहा गया है ।

आज्ञा-विचय

यह श्रद्धाश्रयी तन्मयता है । जैसे किसी निर्देशक के निर्देशानुसार अज्ञात मार्ग की उपलब्धि हो जाती है, वैसे ही किसी साक्षात्कारी ज्ञानी की आज्ञा (आगम या वाणी) के माध्यम से अज्ञात सत्य भी उपलब्ध हो जाता है ।

विचय के अनेक अर्थ किये गये हैं[1]—विपाक, विवेक, विचारणा, पर्यालोचन, अन्वेषण, अनुचिन्तन और मार्गणा ।

आज्ञा का विचय ध्येय है । यह ध्यान का स्वरूप नहीं है । ध्येय अनेक हो सकते हैं, किन्तु ध्यान के स्वरूप अनेक नहीं हो सकते । ध्यान का स्वरूप है स्मृति-समन्वाहारक वह सब ध्येयों में एक रूप ही होता है । जैसे—

१. आज्ञा-विचय के लिए स्मृति समन्वाहार करना धर्म्य-ध्यान है ।

२ अपाय-विचय के लिए स्मृति समन्वाहार करना धर्म्य-ध्यान है ।

३. विपाक-विचय के लिए स्मृति समन्वाहार करना धर्म्य-ध्यान है ।

४. संस्थान-विचय के लिए स्मृति समन्वाहार करना धर्म्य-ध्यान है ।

धर्म्य-ध्यान को समझने के लिए स्मृति समन्वाहार को समझना आवश्यक है ।

---

१. (क) तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागर कृत) ९।३६ : आज्ञा विपाकाय, आज्ञा विचयाय, आज्ञा विवेकाय, आज्ञा विचारणायै ।

(ख) तत्त्वार्थभाष्यानुसारि टीका ९।३७ : विचय :—पर्यालोचनम्, अन्वेषणम् ।
विचयः—अनुचिन्तनं मार्गणम् ।

स्मृति समन्वाहार

ध्यान का अर्थ है एकाग्र चिन्ता-निरोध[1]। निरोध का अर्थ चिन्तन का अभाव नहीं है किन्तु उसे एक आलम्बन पर निरुद्ध करना है। उत्तराध्ययन में बताया गया है कि एक आलम्बन में मन की स्थापना से चित्त का निरोध होता है[2]।

स्मृति समन्वाहार और एकाग्रचिन्ता निरोध दोनों समानार्थवाची हैं। मन को एक आलम्बन में निरुद्ध करना और दूसरे आलम्बनों का निरोध करना स्मृति-समन्वाहार है[3] और यही एकाग्र चिन्ता निरोध है।

शब्द और अर्थ

शब्द वाचक होते हैं और अर्थ वाच्य। जितने द्रव्य और पर्याय हैं, वे सब वाच्य है। किन्तु एक क्षण में एक शब्द-द्वारा अनन्त धर्मात्मक द्रव्य का एक धर्म ही प्रतिपादित होता है। इस नय से द्रव्य अवाच्य है। वाच्य है पर्याय। एक क्षण में एक पर्याय याने एक धर्म।

अर्थ को अभिव्यक्त विशेषताओं के माध्यम से हम उस के साथ शब्द का सम्बन्ध स्थापित करते हैं और फिर उस शब्द के द्वारा एक धर्म का सहारा ले अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

एक व्यक्ति ध्यान-बल से सत्य का साक्षात् कर उसे शब्दों में अवतीर्ण करता है। उस शब्दावतीर्ण बोध का नाम आज्ञा है। इस के माध्यम से एक व्यक्ति का अनुभूत सत्य हजारों-हजारों व्यक्तियों तक पहुँचता है। उस संप्रबुद्ध अर्थ-बोध का नाम भी आज्ञा है। शब्द-बोध के आधार पर अर्थ को जानना अर्थ-बोध की परोक्ष-प्रक्रिया है। शब्द-बोध के सहारे ध्यान करते-करते अर्थ का साक्षात् करना अर्थ-बोध की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया है।

जो सूक्ष्म व अमूर्त्त तत्त्व हैं, वे इन्द्रियगम्य भी नहीं हैं और तर्क-गम्य भी नहीं हैं। उन का प्रत्यक्ष-बोध ध्यान द्वारा होता है। आचार्य शुभचन्द्र ने इस तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—योगी लक्ष्य के सहारे अलक्ष्य, स्थूल के

१. तत्त्वार्थ सूत्र ९।२७
२. उत्तराध्ययन सूत्र २९
३. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक ९।३०

सहारे सूक्ष्म और आलम्बन के सहारे निरालम्ब तत्त्व का चिन्तन करे[१]।

ज्ञात तत्त्व के प्रति स्खलना-भाव पैदा हो जाता है। उस के अनेक हेतु हैं[२]—अनादिकालीन भ्रम, मोह, अनभ्यास, असंग्रह।

किन्तु साक्षात् कृत तत्त्व के प्रति स्खलना-भाव नहीं होता, अतः साक्षात्कार के लिए वस्तु-धर्म में मन को केन्द्रित करना आवश्यक है।

अपाय-विचय

मानसिक ग्रन्थियों के विमोचन का सर्वोत्तम उपाय विश्लेषण है। इसीलिए अपाय-विचय रूपान्तर में उपाय-विचय है[३]। आचार्य विद्यानन्दि ने अपाय-विचय का अर्थ किया है—असत् मार्ग से अपाय और सत् मार्ग से अनपाय—यह बन्ध-मुक्ति का उपाय है, इसीलिए उपाय-विचय नामक ध्येय का पृथक् उल्लेख नहीं किया गया है[४]। अपाय-विचय का अविकल अर्थ है, मुक्ति के बाधक और साधक तत्त्वों का साक्षात्कार।

यह संसार विघ्न-बहुल है, बाधा-बहुल है, दोष-बहुल है, दुःख-बहुल है, अरति-बहुल है। जब इस सत्य की अनुभूति प्रबल हो उठती है, तब मनुष्य का मन अत्यन्त उद्वेग से भर जाता है और वह उसी विषय में स्मृति समन्वाहार कर लेता है। यही अपाय-विचय धर्म्य-ध्यान है[१]। अपाय सूक्ष्म हैं, इसी लिए उन का साक्षात्कार ध्यान से हो सकता है।[५]

विपाक-विचय

विपाक (परिणाम) व्यक्त होता है, हेतु अव्यक्त। विपाक के सहारे हेतु का साक्षात्कार किया जा सकता है। दुर्मेधा के सहारे ज्ञानावरण के सूक्ष्म पुद्गलों की शोध हुई है। चक्षु आदि इन्द्रियों को विकलता तथा निद्रा के सहारे दर्शनावरण के पुद्गलों की शोध हुई है। दुःख-सुख की अनुभूति के

---

१. ज्ञानार्णव ३३।४ :
२. वही, ३३।१
३. वही, ३३।२
४. तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक ९।३६।३ :
५. तत्त्वार्थ भाष्यानुसारि टीका ९।३७

सहारे वेदनीय कर्म के पुद्गलों की शोध हुई है। विपरीत ग्राहिता और विकृत चारित्र के सहारे मोह के पुद्गलों की शोध हुई है। अनेक जन्म ग्रहण के सहारे आयुष्य के पुद्गलों की शोध हुई है। शुभ-अशुभ देह तथा उच्च-नीच सन्तति के सहारे नाम और गोत्र के पुद्गलों की शोध हुई है। अलाभ के सहारे अन्तराय के पुद्गलों की शोध हुई है[1]। इस प्रकार विपाक-विचय हेतु-शोध की महान् प्रक्रिया है। इस से अन्य द्रव्यों के परिणाम और उन के हेतु ध्येय बनाये जा सकते हैं।

संस्थान-विचय

यह रूपगत ध्येय है। आज्ञा-विचय की पदस्थ और संस्थान-विचय की रूपस्थ ध्यान से तुलना की जा सकती है। विपाक-विचय में अपने पुरुषाकार रूप का ध्यान किया जाता है—आचार्य शुभचन्द्र ने इस का निर्देश किया है[2]। तदनुसार उस की तुलना पिण्डस्थ ध्यान से की जा सकती है।

संस्थान-विचय में संस्थान शब्द संग्राही है। इस संग्रह का विस्तार ध्यान-शतक में किया गया है। द्रव्य के लक्षण, संस्थान, आधार, विधान, (प्रकार) प्रमाण, उत्पाद, स्थिति और व्ययात्मक पर्यायों तथा जीव आदि अमूर्त द्रव्यों के स्वरूप का चिन्तन संस्थान-विचय की मर्यादा में आता है[3]।

इसके अमूर्त्त स्वरूप की तुलना रूपातीत ध्यान से की जा सकती है। ध्यान-शतक में संस्थान-विचय का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, वही ज्ञानार्णव में आज्ञा-विचय का किया गया है।[4] इन दोनों ध्येयों में स्वरूपभेद नहीं, लक्षण-भेद प्रतीत होता है। आज्ञा-रुचि व्यक्ति आज्ञा-विचय ध्येय में स्मृति समन्वहार करता है और अवगाढ़ (विस्तार) रुचि व्यक्ति संस्थान-विचय ध्येय में स्मृति समन्वाहार करता है। ध्यान-शतक की संस्थान-विचय विषयक एक गाथा से इस का संकेत मिल जाता है—

किं बहुणा सव्वंचिय, जीवाइ पयत्थवित्थरोवेयं।

१. तत्त्वार्थभाष्यानुसारि टीका, ६।३७
२. ज्ञानार्णव ३५।२६
३. ध्यानशतक ५२-६१
४. ज्ञानार्णव ३३।६-८

सव्वनय समूह मयं, झाएज्झा समय सब्भावं ॥ (ध्यानशतक ६२)

ज्ञान और ध्यान

ज्ञान और ध्यान दोनों एक ही चेतना के दो परिणमन हैं। चेतना केवल परिणमन का अर्थ ज्ञान और स्थिर परिणमन का अर्थ ध्यान है।[1] भावना ज्ञानात्मक होती है। उस का अनुचिन्तन गतिशील होता है और ध्यान का अनुचिन्तन निरोधात्मक होता है[2]।

जो चेतना भिन्न-भिन्न आलम्बनों पर स्फुरित होती है, वह उस की ज्ञानात्मक सत्ता है। इस की तुलना सूर्य को बिखरी हुई रश्मियों से की जा सकती है।

जो चेतना एक ही आलम्बन पर स्थिर, निरुद्ध या केन्द्रित हो जाती है, वह उस की ध्यानात्मक सत्ता है। इस की तुलना सूर्य की केन्द्रित रश्मियों से की जा सकती है।

स्वाध्याय, जप या भावना में मन एक आलम्बन पर केन्द्रित नहीं होता, वह अनेक आकृतियों के अभिमुख होता रहता है। किन्तु ध्यान में मन एक आकृति को केन्द्र बना स्थितिशील हो जाता है।

ध्यान में चेतना का प्रवाह निरुद्ध नहीं होता, किन्तु उस की अनेक मार्गगामिता निरुद्ध हो जाती है। इस की तुलना दीप-शिखा से की जा सकती है। यह वही दीप-शिखा है--इस प्रत्यभिज्ञा में जो एकत्व की अनुभूति है, वही ध्यानात्मक सत्ता में होती है। इसी स्थिति का नाम 'प्रत्ययैकतानता' या 'ज्ञानान्तरास्पर्शवती चेतना' है।

एक विषय में चेतना का अविच्छिन्न प्रवाह धर्म्य-ध्यान है। भावना या जप में गृहीत कल्पना से भिन्न कल्पना तथा गृहीत चिन्तन से भिन्न चिन्तन आते रहते हैं, किन्तु ध्यान-दशा में ऐसा नहीं हो सकता। उस में गृहीत चिन्तन ही सन्तति रूप में प्रवाहित होता है। भावना या जप में गृहीत शब्द पुनरावृत्त होता रहता है, किन्तु धर्म्य-ध्यान में ऐसा नहीं होता। पदावलम्बी धर्म्यध्यान में जिस पद पर चित्त केन्द्रित किया जाता है, उसी पद में वह चित्त तन्मय हो जाता है। इसी

---

१. ध्यानशतक १

२. तत्त्वार्थवार्तिक ९।३६

लिए वहाँ पुनरावर्तन अपेक्षित नहीं होता।

जिस प्रकार पदस्थ धर्म्य-ध्यान में चेतना पद के साथ तदात्म हो जाती है, उसी प्रकार रूपस्थ में ध्येयगत रूप तथा पिण्डस्थ में नासाग्र आदि के साथ तदात्म हो जाती है।

भावना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति ध्यान की अर्हता प्राप्त करता है।[1] ध्यान समत्व की स्थिति में प्राप्त होता है। गीता में समत्व को योग कहा गया है—'समत्वं योग उच्यते।' साम्य की उपलब्धि ममत्व के विसर्जन से हो सकती है। उस का मूल बीज भावना है[2]। स्थानांग सूत्र में धर्म्य-ध्यान की चार भावनाएँ (अनुप्रेक्षाएँ) बतायी गयी हैं, जिन का उल्लेख पहले किया जा चुका है। जिन भद्रगणि ने ध्यान की अर्हता के लिए चार भावनाओं का निर्देश किया है। वे ये हैं—ज्ञान दर्शन, चारित्र और वैराग्य।[3]

अज्ञानावस्था में ध्यान नहीं हो सकता। ज्ञान के सतत अभ्यास से मनोधारण और मन की निर्मलता प्राप्त होती है तथा सार-असार का विवेक प्राप्त होता है। इस स्थिति में अनायास ही धर्म्य-ध्यान उपलब्ध हो जाता है[4]। स्थानांग सूत्र में वाचना, प्रतिच्छा, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा (अर्थचिन्ता) को आलम्बन कहा गया है। उन्हीं को ध्यानशतक में ज्ञानभावना कहा गया है। मन की सम्मूढ दशा में ध्यान नहीं हो सकता। सम्मूढता सन्देह, आवेग आदि से प्राप्त होती है। ध्यान वही व्यक्ति कर सकता है, जिस में आत्म-विश्वास है, प्रशम है, स्थैर्य है, एक शब्द में जिस का दृष्टिकोण स्वच्छ है[5]।

चैतन्य की अपवित्र दशा में ध्यान नहीं हो सकता। जो व्यक्ति क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, भय, शोक, घृणा आदि से असंत्रस्त होता है, वही ध्यान कर सकता है।

---

१. ध्यानशतक ३०

२. योगशास्त्र ४।५५:—साम्यं स्यान्निर्ममत्वेन तत्कृते भावनाः श्रयेत्।

३. ध्यानशतक ३०

४. (क) ध्यानशतक ३१
   (ख) तत्त्वार्थ भाष्यानुसारि टीका ९।३८

५. ध्यानशतक ३२

अलक्ष्य के प्रति अनुरक्त दशा में ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान वही व्यक्ति कर सकता है, जो लक्ष्य (आत्मोदय) के प्रति अनुरक्त और अलक्ष्य (आत्मोदय के बाधक तत्वों) के प्रति विरक्त होता है। आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म्य-ध्यान की सिद्धि के लिए मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ इन चार भावनाओं को ध्येय बतलाया है[1]।

भावनाओं के विषय में उत्तरोत्तर परिवर्तन हुआ है किन्तु उन की उपयोगिता अपरिवर्तित रही है और वह यह कि भावना के अभ्यास से मन निर्मल होता है, ध्यान करने में क्षम होता है।

महर्षि पतंजलि ने जिसे जप कहा है, वही जैनयोग में भावना है। भगवान् महावीर ने जिस संवरयोग की साधना की थी, उस का एक प्रारम्भिक अंग यह धर्म्य-ध्यान है। पारिभाषिक शब्दों की जटिलता तथा जैन मुनियों की अभ्यास-विमुखता के कारण आज यह वाङ्मय मात्र बना हुआ है। प्राचीन श्रुत तथा अभ्यास के सन्दर्भ में उस का हार्द स्पष्ट करना आवश्यक है। इस का हार्द जितना स्पष्ट होगा, उतना ही हमारे लिए महावीर का साधना-केन्द्र स्पष्ट होगा।

■

---

१. ज्ञानार्णव २७।४

स्याद्वाद और जगत्

यह विश्व भेदाभेद, नित्यानित्य, अस्तित्व-नास्तित्व और वाच्यावाच्य के नियमों से शृंखलित है। कोई भी द्रव्य सर्वथा भिन्न नहीं है और कोई भी सर्वथा अभिन्न नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं है और कोई भी सर्वथा अनित्य नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा अस्ति नहीं है और कोई भी सर्वथा नास्ति नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा वाच्य नहीं है, कोई भी सर्वथा अवाच्य नहीं है। जो द्रव्य है, वह सत्य है। वह भिन्न भी है—अभिन्न भी है, नित्य भी है—अनित्य भी है, अस्ति भी है—नास्ति भी है, वाच्य भी है—अवाच्य भी है। इन सहज सम्भूत नियमों को समझने का जो दृष्टिकोण है, वह अनेकान्त है। इन नियमों की जो व्याख्या-पद्धति है, वह स्याद्वाद है। विश्व में इतना विरोध और इतना असामंजस्य है कि अनेकान्त के बिना उस में अविरोध और सामंजस्य समझा नहीं जा सकता तथा स्याद्वाद के बिना उस की सम्यक् व्याख्या की ही नहीं जा सकती।

अभेद और भेद का नियम

यह विश्व आकाशमय है। आकाश व्यापक है, शेष सब व्याप्य हैं। आकाश वहाँ भी है, जहाँ आकाशेतर कुछ नहीं है पर अन्य ऐसे नहीं है, जहाँ आकाश न हो। जहाँ अन्य भी है और आकाश भी है, वहाँ गति है, स्थिति है और दृश्यपरिवर्तन भी है, इसलिए उसे लोक कहा जाता है। जहाँ अन्य नहीं है, केवल आकाश है, वहाँ गति नहीं है, स्थिति नहीं है और दृश्य-परिवर्तन भी नहीं है, इसलिए उसे 'अलोक' कहा जाता है। सत्ता की दृष्टि से लोक और अलोक दोनों एक हैं, अविभक्त हैं। गति, स्थिति और दृश्य-परिवर्तन सर्वत्र नहीं है, इस दृष्टि से लोक और अलोक दो हैं—विभक्त हैं। गति और स्थिति की दृष्टि

से लोक एक है—अविभक्त है, पर कार्य की दृष्टि से वह एक नहीं है। गति का हेतु जो है, वह स्थिति का नहीं है और स्थिति का जो हेतु है वह गति का नहीं है। गतिशील द्रव्य दो है—पुद्गली (जीव) और पुद्गल। ये ही दो स्थितिशील हैं। दृश्य-परिवर्तन भी इन्हीं के योग से होता है, इन्हीं में होता है। अभेद दृष्टि से सत्ता ही पूर्ण सत्य है। भेद-दृष्टि के ६ प्रकार हैं—१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाश, ४. काल, ५. पुद्गल, ६. जीव। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश—ये तीनों लोक में परिपूर्ण व्याप्त हैं। इन्हें कथमपि पृथक् नहीं किया जा सकता। इन का पृथक्करण कार्य से ही होता है। गति हेतुक जो है वह धर्मास्तिकाय है।[1] यह गति का अन्तिम हेतु है। स्थिति हेतुक जो है, वह अधर्मास्तिकाय है। यह स्थिति का अन्तिम हेतु है।[2] जहाँ वायु भी नहीं है वहाँ भी गति होती है, और वह इसी लिए होती है कि धर्मास्तिकाय वहाँ है। अवगाह हेतु जो है, वह आकाश है।[3] परिवर्तन का हेतु काल है। जो संयुक्त होता है और वियुक्त होता है, वह पुद्गल है।[4] जो चैतन्यमय है, वह जीव है।[5] आकाश और काल को छोड़ कर किसी भी द्रव्य की व्याख्या नहीं की जा सकती, इस दृष्टि से शेष सब द्रव्य आकाश और काल से सर्वथा भिन्न नहीं है। आकाश और काल गति-स्थिति के हेतु नहीं हैं और गति-स्थितिशील भी नहीं हैं, इसलिए वे शेष सब द्रव्यों से सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को छोड़ कर गति और स्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती, इस दृष्टि से जीव और पुद्गल धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय गति-स्थितिशील नही हैं, संयुक्त-वियुक्तधर्मा भी नहीं हैं, इस लिए वे जीव और पुद्गल से सर्वथा अभिन्न नहीं हैं। जीव के बिना पुद्गल की और पुद्गल के बिना जीव की व्याख्या नहीं की जा सकती। पुद्गल के बिना जीव की कोई प्रवृत्ति नहीं होती और जीव के बिना पुद्गल की स्थूल परिणति नहीं होती, इस दृष्टि से जीव और पुद्गल सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जीव-

१. स्थानांग ५।४४१ : गुणतो गमणगुणे।
२. वही, ५।४४१ : गुणतो ठाणगुणे।
३. वही, ५।४४१ : गुणतो अवगाहणागुणे।
४. स्थानांग ५।४४१ : गुणतो गहणगुणे।
५. वही, ५।४४१ : गुणतो उवओगगुणे।

संयोग-वियोग धर्मा नहीं है, रूपी नहीं है और पुद्गल चैतन्यमय नहीं है, इस लिए वे सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। तात्पर्य की भाषा में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो सर्वथा अभिन्न ही है और ऐसा भी कुछ भी नहीं है, जो सर्वथा भिन्न ही है। अभिन्नता की दृष्टि से सारा विश्व एक है। भिन्नता की दृष्टि से सारा विश्व दो भागों में विभक्त है—चैतन्यमय और अचैतन्यमय।

चेतन और अचेतन की उत्पत्ति के विषय में अनेक दार्शनिक अभिमत हैं। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—पहले असत् था, असत् से सत् उत्पन्न हुआ।[१] कुछ ऋषि कहते हैं—असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सब से पहले सत् ही था। उस ने सोचा, मैं अनेक होऊँ। इस संकल्प में सृष्टि उत्पन्न हुई।[२] जो है, वह सब आत्मा ही है।[३] जो कुछ हुआ है, वह आत्मा ही हुआ है।[४] आत्मा ब्रह्म ही है।[५] यह आत्मा द्वैतवाद है। इस के अनुसार अचेतन चेतन से उत्पन्न होता है। चेतन और अचेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

अनात्मवाद के अनुसार पहले अचेतन ही था। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत थे। इन से चेतन उत्पन्न हुआ। यदि यह पता लगाना है कि मनुष्य की उत्पत्ति कैसे हुई तो संसार के विकास में ही उस की खोज करनी होगी। मनुष्य का विकास जीवन के पहले रूपों में से होता है। उस विकास के दौरान में ही विचार और सचेतन व्यवहार ने जन्म लिया है। इस का अर्थ यह है कि वस्तु अर्थात् वह वास्तविकता, जो अचेतन है, पहले से थी। मन अर्थात् वह वास्तविकता, जो सचेतन है, बाद में आयी। साथ ही इस का अर्थ यह भी है कि वस्तु या बाह्य वास्तविकता की सत्ता मन से स्वतन्त्र है। प्रकृति की इस समझ को भौतिकवाद कहते हैं।[६] यह भूताद्वैतवाद है। इस के अनुसार अचेतन से चेतन उत्पन्न होता है। अचेतन और चेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

---

१. छान्दोग्य ६।२।१ : असतः सद्जायत।

२. वही ६।२।२ : कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति।
सत्वेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति।

३. वही ७।२५।२ : आत्मैवेदं सर्वम्।

४. वही. ७।२६।१ : आत्मत एवेदं सर्वम्।

५. माण्डूक्य २ : सर्वं ही एतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।

६. एमिल बर्न्स मार्क्सवाद क्या है ?, पृष्ठ ६८।

अनेकान्त दृष्टि के अनुसार चेतन अचेतन से और अचेतन चेतन से उत्पन्न नहीं है। दोनों अनादि हैं, दोनों स्वतन्त्र और दोनों सापेक्ष। चेतन का एक प्रतिभाग भी मिश्रित नहीं है। वह शुद्ध द्रव्य है। उस का प्रत्येक परमाणु (प्रदेश) अन्त तक चेतन ही रहता है। अचेतन का प्रत्येक परमाणु (प्रदेश) अन्त तक अचेतन ही रहता है। चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। द्रव्य गुणों का संयुक्त रूप होता है। सब द्रव्यों की यही व्याख्या है। जो द्रव्य हैं, उन सब में अनन्त गुण हैं और अनन्त गुणों के जितने समवाय हैं, वे सब द्रव्य हैं। इस भाषा में या तो द्रव्य अनन्त होंगे या एक। सचाई यह है कि वे अनन्त भी नहीं हैं और एक भी नहीं है। सर्वसाधारण गुणों की दृष्टि से द्रव्य एक ही है, किन्तु कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो सर्वसाधारण नहीं हैं। उन्हीं की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं। गति और स्थिति विश्व-व्यवस्था के असाधारण गुण हैं। स्थूल पदार्थों की गति दृश्य-निमित्तों से होती है, किन्तु सूक्ष्म स्कन्धों और परमाणुओं की गति में वायु या विद्युत् आदि सहायक नहीं होते। वे उन्हें छू भी नहीं पाते। परमाणु की अप्रेरित गति बहुत तीव्र होती है। वह एक क्षण में भी लोक के निम्न भाग से ऊर्ध्व भाग तक चला जाता है। वहाँ उस की गति का माध्यम गतितत्त्व (धर्मास्तिकाय) ही होता है। गतितत्त्व गतिमात्र में माध्यम बनता है, किन्तु जहाँ दृश्य माध्यम होते हैं, वहाँ उस की अनिवार्यता ज्ञात नहीं होती, जहाँ दृश्य माध्यम कार्य नहीं करते, वहाँ उस का अस्तित्व स्वयं व्यक्त होता है।

१८वीं एवं १९वीं शताब्दी के भौतिक विज्ञानवेत्ताओं के समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि यदि प्रकाश की तरंगें होती हैं, तो उन का कुछ आधार भी होगा। जैसे पानी सागर की तरंगों को पैदा करता है और हवा उन कम्पनों को जन्म देती है, जिन्हें हम ध्वनि कहते हैं। अतः जब परीक्षणों से यह व्यक्त हुआ कि प्रकाश शून्य से भी हो कर विचर सकता है, तब वैज्ञानिकों ने 'ईथर' (Ether) नामक एक काल्पनिक तत्त्व को जन्म दिया, जो उन के विचार में समस्त आकाश और पदार्थ में व्याप्त है। बाद में फैरेड ने एक अन्य प्रकार के ईथर का प्रतिपादन किया, जिसे विद्युत् एवं चुम्बकीय शक्तियों के वाहक के रूप में माना गया। अन्ततः जब मैक्स्वेन ने प्रकाश को एक 'विद्युत्-चुम्बकीय विक्षोभ' (Electro-

magmetic Disturbance) के रूप में मान्यता प्रदान की, तब ईथर का अस्तित्व निश्चित-सा हो गया।[1]

स्थिरता का माध्यम स्थिति-तत्त्व है। एक परमाणु आकाश-प्रदेश में स्थित होता है, वहाँ उस का माध्यम स्थिति-तत्त्व ही होता है।

आकाश स्थिति का माध्यम नहीं है। वह चर और स्थिर, दोनों तत्त्वों का माध्यम है। आधार-शून्य कुछ भी नहीं है। स्थूल पदार्थ के लिए स्थूल आधार होते हैं। सूक्ष्म या चतु:स्पर्शी स्कन्धों के लिए स्थूल आधार की अपेक्षा नहीं होती। उन का जो आधार है, वह आकाश ही है। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से जो दूरी है, उस का माध्यम आकाश ही है। इस के बिना सब पदार्थ स्वावगाही नहीं होते।

ये तीन अस्तिकाय अरूपी हैं, इन्द्रियातीत हैं। ये विश्व-व्यवस्था की अनिवार्य अपेक्षा से स्वीकृत हैं। गति, स्थिति और अवगाह (या विभाग) इन असाधारण गुणों से गति-तत्त्व (धर्मास्तिकाय), स्थिति-तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) और अवगाह-तत्त्व (आकाशास्तिकाय) का अस्तित्त्व प्रमाणित होता है।

संघात और भेद भी असाधारण गुण हैं। चार अस्तिकायों में केवल संघात है, भेद नहीं है। भेद के पश्चात् संघात और संघात के पश्चात भेद—यह शक्ति केवल पुद्गलास्तिकाय में है। दो परमाणु मिल कर द्विप्रदेशी, यावत् अनन्त परमाणु मिल कर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध बन जाते हैं। वे वियुक्त हो कर पुन: दो परमाणु यावत् अनन्त परमाणु हो जाते हैं। यदि संयोग-वियोग गुण नहीं होता तो यह विश्व या तो एक पिण्ड ही होता या केवल परमाणु ही होते। उन दोनों रूपों से वर्तमान विश्व-व्यवस्था फलित नहीं होती। पुद्गल द्रव्य रूपी है, इन्द्रिय गम्य है, इस लिए इस का अस्तित्त्व बहुत स्पष्ट है, पर इस की स्वतन्त्र सत्ता का आधार यह संघात-भेदात्मक गुण है।

चैतन्य भी असाधारण गुण है। अचेतन से चेतन की प्रक्रिया भिन्न होती है। ग्रहण, परिणमन, व्युत्सर्जन, स्वीकरण, सजातीय प्रजनन, वृद्धि, अनुभूति,

---

१. डॉ० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, लिंकन बारनेट, पृ० ४२।

ज्ञान आदि ऐसे धर्म हैं, जो चेतन में ही प्राप्त होते हैं। चेतन अरूपी है, इन्द्रियातीत है, उस का अस्तित्व चैतन्य गुण से गम्य है।

जीव और पुद्गल—इन दोनों अस्तिकायों के योग से विश्व की विविध परिणतियाँ होती हैं। तीन अस्तिकाय अपनी स्वरूप-मर्यादा तक ही परिवर्तित होते हैं। वे बाह्य निमित्तों से प्रभावित नहीं होते और न वे दूसरे द्रव्यों को प्रभावित करते हैं। उन का अस्तित्व और क्रिया सब दिशाओं में समान रूप से हैं। इसी लिए अमेरिकन भौतिक विज्ञानवेत्ता ए० ए० माईकेलसन और ई० डब्ल्यू० मोरले ईथर सम्बन्धी परीक्षणों में सफल नहीं हुए। उन्होंने क्लीवलैण्ड में सन् १८८१ में एक भव्य परीक्षण किया।

उन के परीक्षण के पीछे निहित सिद्धान्त काफ़ी सीधा था। उन का तर्क था कि यदि सम्पूर्ण आकाश केवल ईथर का एक गतिहीन सागर है, तो ईश्वर के बीच पृथ्वी की गति का ठीक उसी तरह पता लगाना चाहिए और पैमाइश होनी चाहिए, जिस तरह नाविक सागर में जहाज़ के वेग को मापते हैं। जैसा कि न्यूटन ने इंगित किया था, जहाज़ के अन्दर के किसी यान्त्रिक परीक्षण द्वारा शान्त जल में चलने वाले जहाज़ की गति मापना असम्भव है। नाविक जहाज़ की गति का अनुमान सागर में एक लट्ठा फेंक कर और उस से बँधी रस्सी की गाँठों के खुलने पर नज़र रख कर लगाते हैं। अतः ईथर के सागर में पृथ्वी की गति का अनुमान लगाने के लिए माईकेलसन और मोरले ने लट्ठा फेंकने की क्रिया सम्पन्न की। अवश्य ही यह लट्ठा प्रकाश की किरण के रूप में था। यदि प्रकाश सचमुच ईथर में फैलता है, तो इस की गति पर, पृथ्वी की गति के कारण उत्पन्न ईथर की धारा का प्रभाव पड़ना चाहिए। विशेष तौर पर, पृथ्वी की गति की दिशा में फेंकी गयी प्रकाश-किरण में ईथर की धारा से उसी तरह हलकी बाधा पहुँचनी चाहिए, जैसी बाधा का सामना एक तैराक को धारा के विपरीत तैरते समय करना पड़ता है, इस में अन्तर बहुत थोड़ा होगा, क्योंकि प्रकाश का वेग (जिस का ठीक-ठीक निश्चय सन् १८४९ में हुआ) एक सेकेण्ड में १,८६,२८४ मील है, जब कि सूर्य के चारों ओर अपनी धुरी पर पृथ्वी का वेग केवल बीस मील प्रति सेकेण्ड होता है। अतएव ईथर-धारा की विपरीत दिशा में फेंके जाने पर प्रकाश-किरण की गति १,८६,२६४ मील होनी चाहिए और

यदि सीधी दिशा में फेंकी जाये तो १,८६,३०४ मील । इन विचारों को मस्तिष्क में रख कर माईकेलसन और मोरले ने एक यन्त्र का निर्माण किया, जिस की सूक्ष्मदर्शिता इस हद तक पहुँची हुई थी कि वह प्रकाश के तीव्र वेग में प्रति सेकेण्ड एक-एक मील के अन्तर को भी अंकित कर लेता था। इस यन्त्र में, जिसे उन्होंने 'व्यतिकरणमापक' (Interferometer) नाम दिया, कुछ दर्पण इस तरह लगाये हुए थे कि एक प्रकाश-किरण को दो भागों में बाँटा जा सकता था और एक साथ ही दो दिशाओं में उन्हें फेंका जा सकता था। यह सारा परीक्षण इतनी सावधानी से आयोजित और पूरा किया गया कि इस के परिणामों में किसी तरह के सन्देह की गुंजायश नहीं रह गयी। इस का परिणाम सीधे-सादे शब्दों में यह निकला—"प्रकाश-किरणों के वेग में, चाहे वे किसी भी दिशा में फेंकी गयी हों, कोई अन्तर नहीं पड़ता।"

"माईकेलसन और मोरले के परीक्षण के कारण वैज्ञानिकों के सामने एक व्याकुल कर देने वाला विकल्प आया। उन के सामने यह समस्या थी कि वे ईथर सिद्धान्त को—जिस ने विद्युत्-चुम्बकत्व और प्रकाश के बारे में बहुत-सी बातें बतलायी थीं—छोड़ें या उस से भी अधिक मान्य कोपरनिकन-सिद्धान्त को, जिस के अनुसार पृथ्वी स्थिर नहीं, गतिशील है। बहुत से भौतिक विज्ञानवेत्ताओं को ऐसा लगा कि यह विश्वास करना अधिक आसान है कि पृथ्वी स्थिर है बनिस्बत इस के कि तरंगें—प्रकाश-तरंगें, विद्युत् चुम्बीय-तरंगें, बिना किसी सहारे के अस्तित्व में रह सकती हैं। यह एक बड़ी विकट समस्या थी—इतनी विकट कि इस के कारण वैज्ञानिक विचारधारा पचीस वर्षों तक भिन्न-भिन्न रही, एकमत न हो सकी। कई नयी कल्पनाएँ सामने प्रस्तुत की गयीं और रद्द भी कर दी गयीं। उस परीक्षण को मोरले और दूसरे लोगों ने फिर शुरू किया, पर परिणाम वही निकला—ईथर में पृथ्वी का प्रत्यक्ष वेग शून्य है[१]।"

ईथर प्रकाश की गति को प्रभावित नहीं करता इस लिए आईन्स्टीन ने उस के अस्तित्व का निरसन किया। किन्तु गति-नियामक तत्त्व के अभाव में पदार्थ अनन्त में कहीं भटक जाते और वर्त्तमान विश्व एक दिन प्रकाश-शून्य हो जाता।

१. डॉ० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ४३-४६।

जीव और पुद्गल बाह्य निमित्तों से भी प्रभावित होते हैं, परिवर्तित होते हैं। जीव पुद्गल को प्रभावित करता है और पुद्गल जीव को प्रभावित करता है, इस लिए इन में स्वाभाविक और वैभाविक (बाह्य निमित्तज) दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। पुद्गली जीव का अस्तित्व ही हमारे प्रत्यक्ष है। पुद्गल-मुक्त जीव हमारी ज्ञान-धारा से परे हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—छहों पर्याप्तियाँ पौद्गलिक हैं। इन्हीं के द्वारा जीव व्यक्त या ज्ञेय बनता है। दृश्य-जगत् जो है, वह पौद्गलिक है, किन्तु इस का निमित्त जीव ही है, सूक्ष्मस्कन्ध हमारी दृष्टि के विषय नहीं बनते। हमारी दृष्टि में आ सकें, इतनी स्थूलता उन्हें जीव के द्वारा ही प्राप्त होती है। जितने पुद्गल-दृश्य हैं, वे या तो जीव के शरीर-रूप में परिणत हैं या हो चुके हैं[1]।

ज्ञान, दर्शन, सुख-दुःख की अनुभूति, वीर्य—ये जीव के गुण या कार्य हैं[2]। शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श—ये पुद्गल के गुण या कार्य हैं[3]। शब्द, आतप, उद्योत आदि संहति-रहित पदार्थ (Mass-less matter) अथवा ऊर्जारूप (Energy) है।

दृश्य पदार्थ का मूल (Ultimate Constituent) परमाणु है। उन की अनेक वर्गणाएँ (सजातीय, परमाणु समूह) हैं। वे मौलिक कण (Elementary Particles) समुदित हो कर पदार्थ का निर्माण करते हैं। बाह्य निमित्तों से अथवा निश्चित काल-मर्यादा के अनुसार एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में परिवर्तित भी हो जाता है। पुद्गल की विचित्र परिणति के कारण विश्व की व्यवस्था अनन्त-रूपी है।

महान् जर्मन गणितज्ञ लिबनिज ने लिखा है—"मैं यह प्रमाणित कर सकता हूँ कि न केवल प्रकाश, रंग, ताप और इस तरह की अन्य चीजें, अपितु गति, आकार और विस्तार भी वस्तु के ऊपरी गुण हैं। उदाहरण स्वरूप, जैसे हमारी दृश्य-शक्ति यह बतला देती है कि वह गोल, चिकनी और छोटी है। ये ऐसे गुण हैं, जो

---

१. आचारांग वृत्ति, १।१

२. उत्तराध्ययन, अध्ययन २८

३. वही, २८

हमारी इन्द्रियों से पृथक् होने पर उस गुण से अधिक यथार्थता नहीं रखते, जिसे हम परम्परानुसार सफ़ेद की संज्ञा देते हैं।[1]"

बर्कले ने कहा है—"वे सभी तत्त्व जिन से इस संसार का ढाँचा तैयार हुआ है, मानस को छोड़ देने के बाद कोई तथ्य नहीं रखते। जब तक हम उन्हें इन्द्रियों से ग्रहण नहीं करते या जब तक ये हमारे या अन्य किसी प्राणी के मानस में अपना अस्तित्व नहीं रखते, तब तक या तो उन का सर्वथा अस्तित्व ही नहीं होता या फिर वे किसी सनातन शक्ति के मानस में अपना अस्तित्व रखते हैं। आइन्स्टीन यह प्रकट कर के कि आकाश-काल (Space Time) केवल अन्तर्ज्ञान के रूप हैं—जिन को रंग, रूप और आकार की भाँति चेतना से विलग नहीं किया जा सकता—इस तर्क की गाड़ी को अपनी अन्तिम सीमा तक ले गये। आकाश का अस्तित्व केवल पदार्थों के क्रम या उन की व्यवस्था में है—इस के अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। इसी प्रकार काल, घटनाओं के एक क्रम के अतिरिक्त, जिस से हम उसे मापते हैं, और कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता।[2]"

स्याद्वाद के अनुसार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व मानसिक नहीं है। ये पुद्गल के पर्याय (विवर्त) हैं। इन्हीं की अपेक्षा वे अशाश्वत हैं।[3]

वर्णादि चतुष्टय की विविधता चेतना या बाह्य वस्तु-सापेक्ष है, किन्तु उस का अस्तित्व चेतना या बाह्य वस्तु-सापेक्ष नहीं है। एकत्व, पृथक्त्व, सहज भी होता है, वैसे ही उन की वर्णादि-चतुष्टयी की परिणति भी सहज होती है। छोटा-बड़ा, लघु-गुरु, ऋजु-वक्र, ये जैसे सापेक्ष धर्म हैं—दो वस्तुओं की तुलना में उत्पन्न धर्म हैं, वैसे वर्णादिकचतुष्टयी सापेक्ष धर्म नहीं है। यह वस्तुवाद है। स्पर्श मूल शक्ति है। रूखा, चिकना—ये उस की अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। इन की कोई स्थायी सत्ता नहीं है। सौन्दर्य-असौन्दर्य, उपयोगी-अनुपयोगी आदि की कल्पना चेतना का रूप है। पर किसी वस्तु की अस्तिता चेतना का रूप नहीं है। दिक् और काल उपयोगिता-

१. डॉ० आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० १७

२. वही, पृ० १८

३. परमाणुपोग्गलेणं भन्ते ? किं सासए असासए ? गोयमा सिय सासए, सिय असासए। से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—सिय सासए, सिय असासए ?
गोयमा दव्वट्ठयाए सासए, वन्नपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं, असासए।

४. उत्तराध्ययन, अध्ययन २८

वाद के तत्त्व हैं। उन को वास्तविक सत्ता नहीं है। स्याद्वाद के अनुसार विश्व की अखण्डता चतुरूपात्मक है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारों के बिना उस की व्याख्या नहीं हो सकती। द्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है। भाव उस की अवस्थाएँ हैं। वे भी अनन्त होती हैं। अवस्था से वियुक्त कोई द्रव्य नहीं होता और द्रव्य से वियुक्त कोई अवस्था नहीं होती। जितने परिवर्तन होते हैं, वे सब द्रव्य में ही होते हैं और जितने द्रव्य होते हैं वे सब परिवर्तन के कारण ही अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। परिवर्तन कहाँ होता है, इस की व्याख्या क्षेत्र के बिना नहीं की जा सकती। इस के दो रूप हैं: आकाश और दिक्। आकाश वास्तविक है। दिक् निरपेक्ष तत्त्व नहीं है, वह आकाश का ही कल्पित रूप है। ऊर्ध्व, निम्न आदि सापेक्ष हैं। उन का अस्तित्व हमारी चेतनाएँ हैं। परिवर्तन कब होता है, इस की व्याख्या काल के बिना नहीं की जा सकती, या सापेक्ष काल का भी निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। वह द्रव्य का ही एक पर्याय है। उस का तिर्यक् प्रचय नहीं है—स्कन्ध नहीं है। वह केवल ऊर्ध्व प्रचय है—पौर्वापर्य या क्रम है। जो जीव और अजीव के परिवर्तन का क्रम है, वह नैश्चयिक काल है। ज्योतिश्चक्र पर आधारित जो घटना चक्र है, वह व्यावहारिक या सापेक्ष काल है। आईन्स्टीन की चतुर्विस्तारात्मक अखण्डता में द्रव्य के आकाश और काल से परिवर्तित भावों—पर्यायों का विचार है। उन के सापेक्षवाद के अनुसार "एक रेलमार्ग एक विस्तारात्मक आकाशीय अखण्डता है और उस पर चल रही गाड़ी का चालक किसी भी समय किसी एक समन्वयात्मक बिन्दु—एक स्टेशन या मील के पत्थर को देख कर अपनी अवस्थिति को मालूम कर सकता है, परन्तु एक जहाज के कप्तान को दो विस्तारों की चिन्ता करनी पड़ती है। समुद्र की सतह एक द्विविस्तारात्मक अखण्डता है और वे समन्वयात्मक बिन्दु—जिन से नाविक द्विविस्तारात्मक अखण्डता में अपनी अवस्थिति का निश्चय करता है, अक्षांश और देशान्तर हैं। एक विमान-चालक को अपना विमान एक त्रिविस्तारात्मक अखण्डता के बीच से ले जाना पड़ता है, अतः उसे न केवल अक्षांश और देशान्तर की, बल्कि पृथ्वी से अपनी ऊँचाई का भी ध्यान रखना पड़ता है। एक विमान-चालक की अखण्डता जिस रूप में हम आकाश को देखते हैं, उसी से बनती है। दूसरे शब्दों में, हमारे संसार का आकाश एक त्रिविस्तारात्मक अखण्डता है।

"लेकिन गति से सम्बन्धित किसी प्राकृतिक घटना को चर्चा करते समय आकाश में उस की अवस्थिति को ही व्यक्त करना पर्याप्त नहीं है। यह भी बतलाना आवश्यक है कि काल में स्थिति का परिवर्तन कैसे होता है। अतएव न्यूयार्क से शिकागो जाने वाली एक्सप्रेस गाड़ी का एक सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए इतना कह देना ही काफ़ी नहीं है कि वह न्यूयार्क से अलबानी, वहाँ से सिराक्यूस, फिर वहाँ से टोलेडो तथा उस के बाद शिकागो जाती है बल्कि यह बतलाना भी ज़रूरी है कि उन स्थानों पर वह किस समय पहुँचती है। यह कार्य या तो समय-सारिणी से पूरा हो सकता है या दृश्य-चित्र से। यदि न्यूयार्क और शिकागो के बीच के मील, एक लकीर खींचे हुए काग़ज़ पर नीचे की ओर निश्चित किये जायें, घण्टे तथा मिनिट लम्बित रूप में दिखाये जायें और पृष्ठ के कोने से सामने के दूसरे कोने तक एक रेखा खींच कर मार्ग-आलेख प्रदर्शित किया जाये तो द्विविस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता में गाड़ी की प्रगति प्रदर्शित होगी। इस तरह के नक़्शों से अधिकांश समाचारपत्र-पाठक परिचित हैं। उदाहरण स्वरूप स्टोक-मार्केट का नक़्शा द्विविस्तारात्मक डॉलर-काल अखण्डता में आर्थिक घटनाओं को प्रकट करता है। इसी तरह न्यूयार्क से लास एंजिल्स जाने वाले एक विमान की उड़ान को एक चतुर्विस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता में चित्रित किया जा सकता है। यह तथ्य कि विमान 'क्ष' अक्षांश, 'य' देशान्तर और 'ज्ञ' ऊँचाई पर है, विमान-कम्पनी के यातायात-व्यवस्थापक के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता, यदि सम्बन्धित काल की जानकारी न हो। अतएव काल चौथा विस्तार है। और यदि कोई उड़ान को उस के सम्पूर्ण रूप में एक प्राकृतिक यथार्थता के रूप में देखना चाहता है, तो इसे पृथक्-पृथक् उड़ान, चढ़ाई, सरकाव और उतार के रूप में नहीं बाँटा जा सकता। इसे तो एक चतुर्विस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता के रूप में ही सोचना पड़ेगा।[1]"

दिक् और काल इन दो सापेक्ष सत्यों को न लें तो निरपेक्ष सत्य पाँच अस्तिकाय है। इन का अस्तित्व न तो हमारी चेतना में है और न एक-दूसरे की तुलना में उद्भूत है, किन्तु स्वतन्त्र है। इन भिन्न-भिन्न रूपों में अवस्थित अस्ति-

१. डॉ० आइन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ७२-७४

कार्यों और उन के कार्यों का जो समवाय है, वही विश्व है।[1]

कुछ समालोचकों ने लिखा है कि स्याद्वाद हमें पूर्ण या निरपेक्ष सत्य तक नहीं ले जाता, वह पूर्ण सत्य की यात्रा का मध्यवर्ती विश्राम-गृह है। किन्तु इस समालोचना में तथ्य नहीं है। स्याद्वाद हमें पूर्ण या निरपेक्ष सत्य तक ले जाता है। उस के अनुसार पंचास्तिकायमय जगत् पूर्ण या निरपेक्ष सत्य है। पाँचों अस्तिकायों के अपने-अपने असाधारण गुण हैं और उन्हीं के कारण उन की स्वतन्त्र सत्ता है। इन के अस्तित्व, गुण और कार्य की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि के बिना नहीं की जा सकती। चेतन में केवल चैतन्य ही नहीं है, उस के अतिरिक्त अनन्त धर्म और हैं, किन्तु चेतन चैतन्य धर्म की अपेक्षा से ही है, शेष धर्मों की अपेक्षा से वह चेतन नहीं है।[2]

एक धर्म से कोई द्रव्य नहीं बनता। सामान्य और असामान्य सम्भूत हो कर द्रव्य का रूप लेते हैं। वे सब सर्वथा अविरोधी नहीं होते, कथंचित् विरोधी भी होते हैं। वे सर्वथा विरोधी ही नहीं होते कथंचित् अविरोधी भी होते हैं। यदि सर्वथा अविरोधी ही हों तो वे अनेक नहीं हो सकते और यदि वे सर्वथा विरोधी ही हों तो एक नहीं हो सकते। यह अविरोधी और विरोधी भावों का जो सामंजस्य या सह-अस्तित्व है, वह द्रव्य की सहज सापेक्षता है और द्रव्यगत सापेक्षता की सामंजस्यपूर्ण व्याख्या हमारी बौद्धिक सापेक्षता है।

हम किसी भी निरपेक्ष सत्य को ऐसा नहीं पाते जो अपने स्वरूप की व्याख्या में सापेक्ष न हो। वेदान्ती ब्रह्म को पूर्ण या निरपेक्ष सत्य मानते हैं पर वह भी स्वभावगत सापेक्षता से मुक्त नहीं है। उपनिषद् की भाषा में—''ब्रह्म सकम्प भी है, निष्कम्प भी है, दूर भी है, समीप भी है, सब के अन्तर में भी है और सब के बाहर भी है। वह अणु से अणु और महान् से महान् है।[4]'' भगवान्

---

१. किमियं भंते! लोएति पवुच्चइ? गोयमा! पंचत्थिकाया, एसणं एवतिए लोएति पवुच्चइ।—भगवती सूत्र, १३-४

२. प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः। ज्ञानदर्शनतस्तस्मात् चेतनाचेतनात्मकः॥ स्वरूप-सम्बोधन, श्लोक ३

३. 'तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥'—ईशावास्योपनिषद्, ५

४. कठोपनिषद्: अणोरणीयान् महतो महीयान्।

महावीर की भाषा में जीव सकम्प भी है और निष्कम्प भी है,[1] सवीर्य भी है और निर्वीर्य भी है।[2] इन विरोधी रूपों में ही जगत् पूर्णता अर्जित करता है। तात्पर्य यह है कि पूर्ण वही हो सकता है जिस में विरोधी धर्मों का सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व हो।

अस्तित्व और नास्तित्व का नियम

सामान्य धर्मों की दृष्टि से जगत् एक है। द्रव्यत्व एक सामान्य धर्म है। वह परमाणु में भी है और चेतन में भी है। उस की दृष्टि से परमाणु और चेतन भिन्न नहीं हैं। चैतन्य विशेष धर्म है, वह चेतन में है, परमाणु में नहीं है। उस की दृष्टि से चेतन परमाणु से भिन्न है। सामान्य धर्मों की दोनों में अस्तिता है। एक-दूसरे के विशेष धर्मों की एक-दूसरे में नास्तिता है। सामान्य धर्मों की अस्तिता से द्रव्य बनते तो वे अनेक नहीं होते। विशेष धर्म की नास्तिता से द्रव्य बनते तो विश्व की व्यवस्था सर्वथा वियुक्त होती, उस में कोई सामंजस्य या सह-अस्तित्व नहीं होता। अस्तिता और नास्तिता-इन दोनों के योग से द्रव्य बनते हैं, इसी लिए विश्व की व्यवस्था संयुक्त है और उस में विशेष धर्मों या विरोधी धर्मों का सामंजस्यपूर्ण सह-अस्तित्व है। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के पर्याय होते हैं—अस्तित्व-पर्याय और नास्तित्व-पर्याय। अस्तित्व-पर्याय जैसे द्रव्य के घटक होते हैं, वैसे ही नास्तित्व-पर्याय भी उस के घटक होते हैं। दोनों मिल कर ही उस की स्वतन्त्र सत्ता को स्थापना करते हैं। स्वर्ण और जल ये दो द्रव्य हैं। स्वर्ण के घटक परमाणु जल के घटक परमाणुओं से भिन्न हैं। स्वर्ण विशुद्ध है और जल दो वायुओं के मिश्रण से उत्पन्न है। अपने-अपने घटक परमाणु उन से अस्ति-पर्याय के रूप में सम्बद्ध हैं। वैसे ही एक-दूसरे के घटक परमाणु उन से नास्ति-पर्याय के रूप में सम्बद्ध हैं। दोनों पर्याय एक साथ सम्बद्ध रह कर ही द्रव्य को स्वरूप प्रदान करते हैं।[3] केवल अस्ति-रूप में कोई द्रव्य नहीं है, केवल नास्ति-रूप में भी कोई द्रव्य नहीं है, जितने द्रव्य हैं सब अस्ति-नास्ति रूप में हैं :

---

१. भगवती सूत्र, २।५।४

२. वही, १।८

३. 'द्विविधाः पर्यायिणः पर्यायाश्चिन्त्यन्ते···सम्बद्धाश्चासम्बद्धाश्च।'—विशेषावश्यक भाष्य, ४८१-४८२ वृत्ति, पृ० १७८-१८०

केवल अस्ति..........

केवल नास्ति...........

अस्ति-नास्ति........ है

वस्तु-सत्य की दृष्टि से तीसरा विकल्प ही सत्य है। केवल अस्ति और केवल नास्ति का निरूपण सापेक्ष दृष्टि से ही हो सकता है :

स्यात्-अस्ति एव—किसी दृष्टि से है।

स्यात्-नास्ति एव—किसी दृष्टि से नहीं है।

स्वर्ण के परमाणु स्वर्ण के साथ अस्तित्व-रूप में सम्बद्ध हैं और जल के परमाणु उस के साथ नास्तित्व रूप में सम्बद्ध हैं।

ooooo
ooooo } जल है

ooooo—जल नहीं है

ooooo—है

ooooo
ooooo } नहीं है } स्वर्ण है

ooooo
ooooo } है
ooooo—नहीं है } जल है

ooooo स्वर्ण है

ooooo
ooooo } स्वर्ण नहीं है

जल के परमाणु जल के साथ अस्तित्व-रूप में सम्बद्ध हैं और स्वर्ण के परमाणु उस के साथ नास्तित्व-रूप में सम्बद्ध हैं।

स्वर्ण के परमाणु जैसे स्वर्ण के साथ अस्तित्व-रूप में सम्बद्ध हैं, वैसे ही यदि

जल के साथ भी अस्तित्व-रूप में सम्बद्ध हों तो स्वर्ण और जल दो नहीं हो सकते।

स्वर्ण के परमाणु जैसे जल के साथ नास्तित्व-रूप से सम्बद्ध हैं, वैसे ही यदि स्वर्ण के साथ भी नास्तित्व-रूप में सम्बद्ध हों तो स्वर्ण होता ही नहीं।

जल के परमाणु स्वर्ण के साथ यदि नास्तित्व रूप में सम्बद्ध न हों तो जल और स्वर्ण दो नहीं हो सकते।

इस प्रकार अस्ति और नास्ति दोनों पर्याय समन्वित या सापेक्ष हो कर ही द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करते हैं। इस सापेक्षता को समझ कर ही हम भेद में अभेद की स्थापना कर सकते हैं :

द्रव्य

केवल भेद··············०
केवल अभेद ···········०
भेद-अभेद··············है

केवल भेद और केवल अभेद का निरूपण सापेक्ष दृष्टि से ही हो सकता है ?

स्यात् भेद एव—किसी दृष्टि से भेद ही है
स्यात् अभेद एव—किसी दृष्टि से अभेद ही है

००००००० — स्वर्ण — भेद (विशेष)

०००००००
००००००० } जल — भेद (विशेष)

००००००० — पुद्गल
०००००० पुद्गल } अभेद (सामान्य)
००००००

वस्तु-सत्य पुद्गल है। स्वर्ण और जल सापेक्ष द्रव्य हैं।

स्थायित्व और परिवर्तन-नियम

कोई पूर्व-परिचित व्यक्ति हमारे सामने आता है, तब हम कहते हैं—यह वही है। बरसात होते ही भूमि अंकुरित हो उठती है, तब हम कहते हैं—हरियाली

उत्पन्न हो गयी। कपूर हमारे हाथ में रहते-रहते उड़ जाता है, तब हम कहते हैं—वह नष्ट हो गया। यह वही है—यह नित्यता का सिद्धान्त है। हरियाली उत्पन्न हो गयी—यह उत्पत्ति का सिद्धान्त है। वह नष्ट हो गया—यह विनाश का सिद्धान्त है।

द्रव्य की उत्पत्ति के विषय में परिणामवाद, आरम्भवाद, समूहवाद आदि अनेक अभिमत हैं। उस के विनाश के विषय में भी अनेक विचार हैं—रूपान्तर-वाद, विच्छेदवाद आदि। परिणामवादी सांख्य दर्शन कार्य को अपने कारण में सत् मानता है। सत्कार्यवाद के अनुसार जो असत् है, वह उत्पन्न नहीं होता और जो सत् है वह नष्ट नहीं होता, केवल रूपान्तर होता है। उत्पत्ति का अर्थ है सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का अर्थ है सत् की अव्यक्ति। आरम्भवादी न्याय-वैशेषिक कार्य को अपने कारण में सत् नहीं मानते। असत्-कार्यवाद के अनुसार असत् उत्पन्न होता है और सत् विनष्ट होता है। इसी लिए नैयायिक ईश्वर को कूटस्थ नित्य और प्रदीप को सर्वथा अनित्य मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक स्थूल द्रव्य को सूक्ष्म अवयवों का समूह मानते हैं, तथा द्रव्य-मात्र को क्षण-विनश्वर मानते हैं। उन के अभिमत में स्थिति कुछ भी नहीं है। जो एकान्त नित्यवादी हैं, वे भी परिवर्तन की उपेक्षा नहीं कर सकते, जो हमारे प्रत्यक्ष हैं। जो एकान्त अनित्य-वादी हैं, वे भी स्थिति की उपेक्षा नहीं करते, जो हमारे प्रत्यक्ष हैं। इसी लिए नैयायिकों ने दृश्य वस्तुओं को अनित्य मान कर उन के परिवर्तन की व्याख्या की और बौद्धों ने सन्तति मान कर उन के प्रवाह की व्याख्या की।

वैज्ञानिक जगत् में रूपान्तर का सिद्धान्त सर्व-सम्मत है। उदाहरणस्वरूप, एक मोमबत्ती को ले लीजिए। जलाये जाने पर कुछ ही समय में उस का सम्पूर्ण नाश हो जायेगा। प्रयोगों-द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि मोमबत्ती के नाश होने से अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति हुई।[१]

इसी तरह जल को एक प्याले में रखा जाये और प्याले में दो छिद्र कर तथा उन में कार्क लगा कर दो प्लेटिनम की पत्तियाँ जल में खड़ी कर दी जायें और प्रत्येक पत्ती के ऊपर एक काँच का ट्यूब लगा दिया जाये तथा प्लेटिनम की

१ A Text Book of Inorganic Chemistry by J. R. Partington, p. I5.

पत्तियों का सम्बन्ध तार द्वारा बिजली की बैटरी के साथ कर दिया जाये तो कुछ ही समय में पानी गायब हो जायेगा। साथ ही यदि उन प्लेटिनम की पत्तियों पर रखे गये ट्यूबों पर ध्यान दिया जायेगा तो दोनों में एक-एक तरह की गैस मिलेगी, जो ऑक्सीजन और हाइड्रोजन होगी।[1]

आधुनिक वैज्ञानिक शोधों से यह प्रमाणित हुआ है कि पुद्गल शक्ति में और शक्ति पुद्गल में परिवर्तित हो सकती है।[2] सापेक्षवाद के अनुसार पुद्गल के स्थायित्व के नियम व शक्ति के स्थायित्व का नियम कर देना चाहिए।[3]

स्याद्वाद के अनुसार सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता।[4] ऐसी कोई स्थिति नहीं होती, जिस के साथ उत्पाद और विनाश की अविच्छिन्न धारा न हो और ऐसे उत्पाद-विनाश नहीं होते, जिन की पृष्ठभूमि में स्थिति का हाथ न हो?

सब द्रव्य उभय-स्वभावी हैं। उन के स्वभाव की व्याख्या एक ही नियम से नहीं हो सकती। असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता। इस द्रव्यनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा द्रव्यों (ध्रौव्यांशों या मूलभूत तत्त्वों) की ही व्याख्या हो सकती है। इस के द्वारा रूपान्तरों (पर्यायों) की व्याख्या नहीं हो सकती। उन की व्याख्या—असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होता है—इस पर्यायनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही की जा सकती है। इन दोनों को एक भाषा में परिणामी-नित्यवाद या नित्यानित्यवाद कहा जा सकता है। इस में स्थायित्व और परिवर्तन के सापेक्ष रूप की व्याख्या है। इस जगत् में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जो सर्वथा स्थायी ही है और ऐसा भी कोई द्रव्य नहीं है, जो सर्वथा परिवर्तनशील ही है। मोमबत्ती, जो परिवर्तनशील है, वह भी स्थायी है और जीव, जो स्थायी माना जाता है वह भी परिवर्तनशील है। स्थायित्व और परिवर्तनशीलता की दृष्टि से जीव और मोमबत्ती में कोई अन्तर नहीं है।[5]

---

१. A Text Book of Inorganic Chemistry by G, S Neuth, P. 237.

२. General Chemistry by Linus Pauling, PP. 4-5.

३. General and Inorganic Chemistry by P. J. Durrant, P. 18.

४. 'भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो।'—पंचास्तिकाय, १५

५. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक ५

कोरी स्थिति ही होती, तो सब द्रव्य सदा एक-रूप रहते, कहीं, कोई परिवर्तन नहीं होता—न कुछ बनता और न कुछ मिटता। न कोई घटना होती न कोई क्रम होता और न कोई व्याख्या होती।

कोरे उत्पाद और व्यय होते तो उन का कोरा क्रम होता, पर स्थायी आधार के बिना वे कुछ रूप नहीं ले पाते। कर्तृत्व, कर्म और परिणामो की कोई व्याख्या नहीं होती। स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार परिवर्तन भी है और उस का आधार भी है, परिवर्तन-रहित कोई स्थायित्व नहीं है, और स्थायित्व-रहित कोई परिवर्तन नहीं है। दोनों अपृथक्भूत हैं। परिवर्तन स्थायी में ही हो सकता है। और स्थायी वही हो सकता है, जिस में परिवर्तन हो। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—निष्क्रियता और सक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज समन्वित रूप है, वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने केन्द्र में ध्रुव, स्थिर और निष्क्रिय है। उस के चारों ओर परिवर्तन की अटूट शृंखला है। इसे हम परमाणु (या व्यावहारिक परमाणु) की रचना के द्वारा समझ सकते हैं। अणु की रचना तीन प्रकार के कणों से मानी जाती है: १. प्रोटोन, २. इलेक्ट्रोन, ३. न्यूट्रोन। प्रोटोन घनात्मक कण है। वह परमाणु का मध्यबिन्दु होता है। इलेक्ट्रोन ऋणात्मक कण है। यह घनाणु के चारों ओर परिक्रमा करता है। न्यूट्रोन उदासीन कण होते हैं।

जीव के प्रयत्न से जो परिवर्तन होता है, वह प्रत्यक्ष है। किन्तु जीव में भी जो प्रतिक्षण परिवर्तन होता है—अस्तित्व की सुरक्षा के लिए जो सहज सक्रियता होती है अथवा निषेध की सुरक्षा के लिए जो विधि का प्रयत्न होता है—वह प्रत्यक्ष नहीं है। इसी लिए हमारी दृष्टि में किसी भी वस्तु का अस्तित्व व्यक्त (व्यंजन) पर्याय से होता है। अर्थ-पर्याय (सूक्ष्म सक्रियता) हम किसी वस्तु का अस्तित्व मानने में सफल नहीं होते।

बहुत सारा परिवर्तन जीवों के प्रयत्न के बिना होता है—पदार्थ की स्वाभाविक गति से होता है। अनेक परमाणु मिल कर परिवर्तन करते हैं तब वह समुदायकृत कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय

में ऐकत्विक परिवर्तन होता है। उत्पाद और विनाश दोनों का यही क्रम है[1]। परमाणु स्वतन्त्र परमाणु के रूप में रहता है तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्य काल तक रह सकता है। द्व्यणुक स्कन्ध से ले कर अनन्ताणुक स्कन्ध के लिए भी यही नियम है[2]।

एक परमाणु परमाणु-रूप को छोड़ कर स्कन्ध-रूप में परिणत होता है, वह जघन्यतः एक समय के पश्चात् फिर परमाणु-रूप में आ जाता है। उस से आगे वह स्कन्ध रूप में नहीं रह सकता[3]। स्कन्ध में उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का हो सकता है[4]।

यह समूचा जगत् अणुओं या प्रदेशों से निष्पन्न है। पुद्गल के अणु विश्लिष्ट हैं। शेष चारों अस्तिकायों के अणु श्लिष्ट हैं—परस्पर एक-दूसरे से अविच्छिन्न हैं। वे अनादि विस्रसा (स्वाभाविक) बन्ध से बँधे हुए हैं[5]। वह बन्ध अनन्तकालीन या सर्वकालीन है।

सादि-विस्रसा बन्ध का काल-मान इस प्रकार होता है[6]—

	जघन्य	उत्कृष्ट
१. बन्धन प्रत्ययिक	—एक समय	असंख्य काल
२. भाजन प्रत्ययिक	—अन्तर-मुहूर्त्त	संख्येय काल
३. परिणाम प्रत्ययिक	—एक समय	छह मास

जीव और पुद्गल अनादि प्रायोगिक बन्ध से बँधे हुए हैं। १. आलायन, २ आलीन, ३. शरीर, ४. शरीर-प्रयोग—ये सादि प्रायोगिक बन्ध हैं[7]। इन का काल मान इस प्रकार होता है :

---

१. सन्मतिप्रकरण, ३।३२-३४
२. भगवती सूत्र, ५।७
३. वही, ५।७
४. वही, ५।७
५. वही, ८।६
६. वही, ८।६
७. वही, ८।६

	जघन्य	उत्कृष्ट
१. आलायन	—अन्तर-मुहूर्त्त	संख्येय काल
२. आलीन	—अन्तर-मुहूर्त्त	संख्येय काल
३. शरीर	—एक समय	अनन्तकाल
४. शरीर-प्रयोग	—एक समय	अनन्तकाल

सूक्ष्म परिवर्तन (अगुरु-लघु पर्याय) प्रतिक्षण होता है और सब द्रव्यों में होता है। स्थूल परिवर्तन (व्यंजन पर्याय) जीव और पुद्गल, इन दो ही द्रव्यों में होता है। वह पर-निमित्त से ही होता है और सहज भी होता है। असंख्य काल के पश्चात् व्यंजन-पर्याय का निश्चित परिवर्तन होता है। सोने का परमाणु असंख्यकाल के पश्चात् सोने का नहीं रहता, वह दूसरे द्रव्य का प्रायोग्य बन जाता है।[1] यह परिवर्तन ही विश्व-संचालन का बहुत बड़ा रहस्य है। सृष्टि के आरम्भ, विनाश और संचालन की व्यवस्था इसी स्वाभाविक परिवर्तन के सिद्धान्त पर आधारित है। अगुरु-लघु पर्याय (या अस्तित्व की क्षमता) की दृष्टि से विश्व अनादि-अनन्त है। व्यंजन-पर्याय की दृष्टि से विश्व सादि-सान्त है। स्वाभाविक परिवर्तन की दृष्टि से विश्व स्वयं संचालित है। प्रत्येक द्रव्य की संचालन-व्यवस्था उस के सहज स्वरूप में सन्निहित है। वैभाविक परिवर्तन की दृष्टि से विश्व जीव और पुद्गल के संयोग-वियोग से प्रजनित विविध परिणतियों द्वारा संचालित है। विश्व के परिवर्तन और स्थायित्व की व्याख्या सापेक्षवाद इस प्रकार करता है[2]—वैज्ञानिक निष्कर्षों को आन्तरिक और बाह्य सीमाओं पर जो भी सूत्र प्राप्त हुए हैं, वे यह व्यक्त करते हैं कि ब्रह्माण्ड का निर्माण किसी निश्चित काल में हुआ होगा। जिस अभिन्न हिसाब से यूरेनियम अपनी परमाणु-केन्द्रीय शक्ति को बिखेरता है (और चूंकि उस के निर्माण की किसी प्राकृतिक प्रणाली का पता नहीं चलता), उस से प्रकट होता है कि इस पृथ्वी पर जितना भी यूरेनियम है, सब का निर्माण एक निश्चित काल में हुआ होगा। भू-विज्ञान-वेत्ताओं की गणना के अनुसार यह काल क़रीब बीस अरब वर्ष पूर्व रहा होगा। तारों के आन्तरिक भागों में दुर्धर्ष रूप से चलने वाली तापकेन्द्रीय प्रणालियाँ जिस

१. भगवती सूत्र, ८।९
२. डॉ० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ. ११३-११४

तीव्रता से पदार्थ को प्रकाश-किरण में परिणत करती हैं, उस से अन्तरिक्ष-विज्ञान-वेत्ता नक्षत्रीय जीवन का विश्वासपूर्वक हिसाब लगाने में समर्थ हैं। उन के हिसाब से अधिकांश दृश्य तारों की औसत आयु बीस अरब वर्ष है। इस प्रकार भू-विज्ञानवेत्ताओं और अन्तरिक्ष-विज्ञानवेत्ताओं के हिसाब ब्रह्माण्डवेत्ताओं के हिसाब के बहुत अनुकूल ठहरते हैं, क्योंकि दौड़ती हुई ज्योतिर्मालाओं के प्रत्यक्ष वेग के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्माण्ड का विस्तार-कार्य बीस अरब वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ होगा। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी कुछ ऐसे लक्षण उपलब्ध हैं, जो इसी तथ्य को प्रकट करते हैं। अतएव ब्रह्माण्ड के अन्ततः विनाश की ओर इंगित करने वाले सारे प्रमाण काल पर आधारित उस के आरम्भ को भी निश्चयपूर्वक व्यक्त करते हैं।

यदि कोई एक अमर स्फुरणशील ब्रह्माण्ड (जिस में सूरज, पृथ्वी और विशालकाय लाल तारे अपेक्षाकृत नवागन्तुक हैं) की कल्पना से सहमत हो जाये, तो भी आरम्भिक उद्भव की समस्या शेष रह ही जाती है। इस से केवल उद्भवकाल असीम अतीत के गर्भ में चलता जाता है, क्योंकि वैज्ञानिकों ने ज्योतिर्मालाओं, तारों, तारा-सम्बन्धी रजकणों, परमाणुओं और यहाँ तक कि परमाणु में निहित तत्त्वों के बारे में गणित की सहायता से जो भी लेखा-जोखा तैयार किया है, उस के हर सिद्धान्त की आधारभूत धारणा यह रही है कि कोई चीज़ पहले से विद्यमान अवश्य थी—चाहे वह उन्मुक्त न्यूट्रोन हो या शक्ति की राशि या केवल अगाध 'ब्रह्माण्डीय तत्त्व' जिस से आगे चल कर ब्रह्माण्ड ने यह रूप प्राप्त किया।

स्याद्वाद की भाषा में विश्व के स्थायित्व और परिवर्तन (आरम्भ और विनाश, रूपान्तर या अर्थान्तर) को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

१. स्यात् नित्यं एव—एक दृष्टि से नित्य ही है।

२. स्यात् अनित्यं एव—एक दृष्टि से अनित्य ही है।

३. स्यात् नित्यं स्यात् अनित्यं एव—युगपत् वस्तु नित्यानित्य ही है।

द्रव्य

केवल नित्य·······०

केवल अनित्य ····०

नित्यानित्य········है ।

एक परमाणु विभिन्न अवस्थाओं से संक्रान्त होते हुए भी अन्ततः परमाणु ही है । वह अनन्त अवस्थाओं को ओर प्राप्त कर के भी अन्ततः परमाणु ही रहेगा। यह नियम सभी द्रव्यों के लिए समान है ।

वाच्य और अवाच्य का नियम

उपनिषद् का ब्रह्म न सत् है, न असत् है[1], किन्तु अवक्तव्य है । उस का स्वरूपबोधक वाक्य है—नेति-नेति[2] । वह वाणी के व्यवहार से परे है[3] । उपनिषदों में सकम्प-निष्कम्प, क्षर-अक्षर, सत्-असत्, अणु-महान् आदि अनेक विरोधी युगल ब्रह्म में स्वीकृत हैं[4] । इस लिए वह अवक्तव्य बन गया । वेदान्त का वाच्य है—नाम रूपात्मक जगत् ।

महात्मा बुद्ध ने—

१. लोक शाश्वत है ।
२. लोक अशाश्वत है ।
३. लोक सान्त है ।
४. लोक अनन्त है ।
५. जीव और शरीर एक है ।
६. जीव और शरीर भिन्न है ।

इन प्रश्नों को अव्याकृत कहा है ।[5]

ऐकान्तिक शाश्वतवाद और ऐकान्तिक उच्छेदवाद उन्हें निर्दोष नहीं लगा, इस लिए वे नित्यानित्य की चर्चा में नहीं गये । उन्होंने इन प्रश्नों को अव्याकृत कह कर टाल दिया । उन्होंने जन्म-मरण आदि प्रत्यक्ष धर्मों को व्याकृत कहा[6] ।

---

१. श्वेताश्वतर ४।१८; नसन्न चासत ।
२. बृहदारण्यक, ४।५।१५; स एष नेति नेति ।
३. तैत्तिरीय २।४; यतो वाचो निवर्तन्ते ।
४. कठोपनिषद्द १।१२।२०; मुण्डकोपनिषद्द २।२।१ श्वेताश्वतर १।८; ईशा० ५
५. मज्झिमनिकाय, चूल मालुङ्क्यसुत्त, ६३
६. वही, चूल मालुङ्क्यसुत्त ६३

भगवान् महावीर ने विरोधी धर्मों की अवहेलना भी नहीं की और उन की सहस्थिति से विचलित भी नहीं हुए। वे विरोधी धर्मों की सहस्थिति से परिचित हुए, अतः उन्होंने किसी एक को वाच्य और किसी दूसरे को अवाच्य नहीं माना। उन की नय-दृष्टि के अनुसार विश्व का कोई भी द्रव्य सर्वथा वाच्य नहीं है और कोई द्रव्य सर्वथा अवाच्य नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त विरोधी युगलों का पिण्ड है। उस के सब धर्मों को कभी नहीं कहा जा सकता। एक काल में एक ही शब्द एक ही धर्म को व्यक्त करता है, इस लिए एक साथ अनन्त धर्मों का निरूपण नहीं किया जा सकता। इस नय-दृष्टि से द्रव्य अवाच्य भी है। प्रयोजनवश हम द्रव्य के किसी एक धर्म का निरूपण करते हैं, इस दृष्टि से वे वाच्य भी हैं। जब हम एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक द्रव्य का निरूपण करते हैं तब हमारी दृष्टि और हमारा वचन सापेक्ष बन जाते हैं। हम उस विवक्षित धर्म को अनन्तधर्मात्मक द्रव्य का प्रतीक मान कर एक के द्वारा सकल का निरूपण करते हैं। इस नियम को सकलादेश कहा जाता है। स्यात् शब्द इसी सकलादेश का सूचक है। जहाँ हमें एक धर्म के द्वारा समग्र धर्मों का निरूपण करना हो, वहाँ स्यात् शब्द का प्रयोग कर देना चाहिए। जैसे :

१. स्यात् अस्ति—यहाँ अस्ति धर्म के द्वारा समग्र धर्मी वाच्य है।

२. स्यात् नास्ति—यहाँ नास्ति धर्म के द्वारा समग्र धर्मी वाच्य है।

द्रव्य में जिस क्षेत्र और जिस काल में अस्ति-धर्म होता है, उसी क्षेत्र और उसी काल में नास्ति-धर्म होता है, एक साथ वे दोनों कहे नहीं जा सकते, इस लिए हम कहते हैं :

३. स्यात् अवक्तव्य—यहाँ अवक्तव्य पर्याय के द्वारा समग्रधर्मी वाच्य है। इस का तात्पर्यार्थ है कि द्रव्य में अस्ति-नास्ति जैसे विरोधी धर्म युगपत् हैं, पर उन्हें कहने के लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं है। वे जिस रूप में हैं, उस रूप को युगपत् वाणी के द्वारा प्रकट करना शक्य नहीं है, इस लिए वे अवाच्य हैं।

तीनों विकल्पों का निष्कर्ष यह है कि एक धर्म को समग्रधर्मी का प्रतीक मान कर हम द्रव्य का वर्णन करें तो वह अवाच्य भी है और अनेक या समग्र धर्मों को हम एक साथ कहना चाहें तो वह अवाच्य भी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनी विचित्र परिस्थिति के कारण वाच्य और अवाच्य दोनों है। स्याद्वाद

धर्मीग्राही है, इस लिए उस में अवाच्य का पक्ष प्रधान है और वाच्य पक्ष गौण है। नयवाद धर्मग्राही है, इसी लिए उस में वाच्य पक्ष प्रधान है और अवाच्य पक्ष गौण। हमारा ज्ञेय सत्य अनन्त है[1] और वाच्य सत्य उस का अनन्तवाँ भाग है। हमारा इन्द्रिय-ज्ञान सीमित है और हमारी भाषा की भी निश्चित सीमा है। प्रत्येक वस्तु अपने-आप में असीम है। ससीम के द्वारा असीम का दर्शन और निरूपण जो होता है, वह सापेक्ष ही होता है। धर्मी के एक धर्म के द्वारा जो आकलन व निरूपण होता है, वह अभेद-वृत्ति या अभेदोपचार से होता है। एक धर्म का आकलन या निरूपण स्वाभाविक सहज शक्ति से होता है। हमारी इन्द्रियाँ एक धर्मग्राही हैं। हमारा जो दृश्य-जगत् है, वह पौद्गलिक है। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप ये पुद्गल के गुण हैं और शब्द उस का कार्य है। हमारी पाँचों इन्द्रियाँ क्रमशः इन्हें ग्रहण करती हैं :

स्पर्शन—स्पर्श

रसन—रस

घ्राण—गन्ध

चक्षु—रूप

श्रोत्र—शब्द

आम में स्पर्श आदि चारों गुण होते हैं। चारों इन्द्रियाँ उसे पृथक्-पृथक् चार रूपों में ग्रहण करती हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय के लिए वह एक स्पर्श है, रसन-इन्द्रिय के लिए वह एक रस है, घ्राण-इन्द्रिय के लिए वह एक गन्ध है, चक्षु-इन्द्रिय के लिए वह एक रूप है। इन्द्रियाँ ऋजु हैं, वर्तमान को जानती हैं, अतीत का चिन्तन और भविष्य की कल्पना उन में नहीं होती। वे अपने-अपने विषय को जान लेती हैं, पर सब विषयों को मिला कर जो एक वस्तु बनती है, उसे नहीं जान पातीं। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप में भी अनन्त तारतम्य होता है :

---

१. 'पण्णवणिज्जाभावा, अणंत भागो उ अणभिलप्पाणं'—विशेषावश्यक भाष्य, १४१।

स्पर्श	एकगुण	संख्यातगुण	असंख्यगुण	अनन्तगुण
रस	,,	,,	,,	,,
गन्ध	,,	,,	,,	,,
रूप	,,	,,	,,	,,

इन्द्रियाँ नहीं जान पातीं कि तारतम्य के आधार पर किस वस्तु को क्या कहना चाहिए? इस की व्यवस्था मन करता है। वह इन्द्रियों के द्वारा गृहीत धर्मों को धर्मी के साथ संयुक्त कर देता है। चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा केवल रूपधर्म का ग्रहण होता है। मन उस रूप-धर्म के द्वारा रूपी धर्मी का भी ग्रहण कर लेता है। हमारे ज्ञान का प्रथम द्वार है इन्द्रिय, और दूसरा द्वार है मन। हम पहले-पहले धर्म को जानते हैं, फिर धर्मी को। धर्म धर्मी से वियुक्त नहीं है, इस लिए हमारी इन्द्रियाँ जब धर्म को जानती हैं, तब भी हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। क्योंकि धर्मी से पृथक् स्वतन्त्र धर्म का कोई अस्तित्व नहीं है। धर्मी किसी एक धर्म के माध्यम से ही अपने को व्यक्त करता है, इस लिए हमारा धर्मी का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। इन्द्रिय और मन में निरपेक्ष ज्ञान करने की क्षमता नहीं है, अर्थात् धर्मी से वियुक्त धर्म को तथा धर्म के माध्यम के बिना धर्मी को जानने की क्षमता नहीं है। धर्म-धर्मी के इस सापेक्ष ज्ञान को 'नय-वाद' या विकलादेश कहा जाता है। जितने धर्म हैं, उतने ही वचन-प्रकार हैं। जितने वचन-प्रकार हैं, उतने ही नयवाद है[१]।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

द्रव्य की दो प्रधान अवस्थाएँ हैं—अन्वय और परिवर्तन। परिवर्तन क्रमिक होता है और अन्वय उन क्रमिक अवस्थाओं की अटूट कड़ी होता है। तरंग एक क्रम है, जल उस में सर्वत्र व्याप्त है। जल से तरंग को और तरंग से जल को पृथक् नहीं किया जा सकता। जल और तरंग दोनों भिन्न अवस्थाएँ हैं, उन्हें एक भी नहीं माना जा सकता। फिर भी हम कहीं-कहीं अन्वयी की उपेक्षा कर केवल अन्वय का प्रतिपादन करते हैं और कहीं-कहीं अन्वय की उपेक्षा कर अन्वयी का

१. 'जावइया वयण वहा, तावइया चेव होंति णयवाया।'—सन्मति-प्रकरण, ३।४७।

प्रतिपादन करते हैं। यह एकान्तवाद है। पर यहाँ उपेक्षा का अर्थ निराकरण नहीं है, इस लिए यह निरपेक्ष एकान्तवाद नहीं है। अन्वयी के प्रतिपादन में अन्वय और अन्वय के प्रतिपादन में अन्वयी स्वयं-गम्य है। कभी हमारा दृष्टि-कोण अन्वय-प्रधान (द्रव्यार्थिक) होता है और कभी परिवर्तन-प्रधान (पर्या-यार्थिक) होता है। सच तो यह है कि हमारे जितने एकांगी दृष्टिकोण हैं, वे सब परिवर्तन-प्रधान हैं। फिर भी जब हम अन्वय का स्पर्श करते हुए परिवर्तन की व्याख्या करते हैं, तब हमारा दृष्टिकोण अन्वय-प्रधान बन जाता है और जब हम अन्वय का स्पर्श किये बिना केवल परिवर्तन की व्याख्या करते हैं, तब हमारा दृष्टिकोण परिवर्तन-प्रधान बन जाता है।

नैगम

अन्वय सब कालों व स्थितियों में सामान्य होता है, इस लिए वह अभेद है। परिवर्तन विलक्षण होता है, इस लिए वह भेद है। केवल अभेदात्मक वा केवल भेदात्मक दृष्टिकोण से विश्व की व्याख्या नहीं की जा सकती। उस की व्याख्या अभेद को गौण व भेद को प्रधान अथवा भेद को गौण व अभेद को प्रधान मानकर की जा सकती है। इस प्रणाली को नैगम नय कहा जाता है।

संग्रह

विश्व में अनेक धर्म ऐसे हैं, जो विलक्षण हैं, पर विलक्षणता में भी अस्तित्व या सत्ता ऐसा धर्म है, जो सब को एक साथ टिकाये और स्वरूप प्रदान किये हुए है। जब हम अस्तित्व-धर्म की दृष्टि से विश्व की व्याख्या करते हैं, तब समूचा विश्व हमारे लिए एक हो जाता है। विश्व के केन्द्र में सत्ता है। वह एक और अखण्ड है।

वेदान्त चेतन को केन्द्र में मान कर विश्व को एक मानता है और संग्रह-दृष्टि सत्ता को केन्द्र में मान कर विश्व को एक मानती है। वह भी सापेक्षदृष्टि है, अर्थात् सत्ता की अपेक्षा विश्व एक है। सब धर्मों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म भी नहीं है और सब धर्मों की अपेक्षा अद्वैतवाद का विश्व भी नहीं है। परम संग्रह या परम एकत्व की दृष्टि में अस्तित्व के अतिरिक्त और कोई प्रश्न ही

नहीं होता । वहाँ एक ही तत्त्व होता है—जो सत् है, वह सत्य है, और जो सत्य है, वह सत् है । अद्वैत-प्रणाली को संग्रह-नय कहा जाता है ।

व्यवहार

आकाश सर्वत्र व्याप्त है । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय असंख्य योजन तक आकाश से सहवर्ती हैं । आकाश, धर्म, अधर्म और जीव--ये चारों अमूर्त्त हैं, इस लिए वे अन्योन्य-प्रविष्ट रह सकते हैं । पुद्गल मूर्त है । अमूर्त और मूर्त में एकावगाह का विरोध नहीं है, इस लिए वे सभी एक साथ रह सकते हैं । सहज ही जिज्ञासा होती है—पाँचों एकावगाह हो सकते हैं, तब उन्हें पृथक् क्यों माना जाये ? इस का समाधान उन के विलक्षण स्वभाव के आधार पर ही किया जा सकता है । वे एक साथ रहते हुए भी अपने विलक्षण स्वभाव का परित्याग नहीं करते,[1] इस लिए सत्ता व एकावगाह की दृष्टि से अपृथक् होते हुए भी वे विलक्षण स्वभाव परिणाम की दृष्टि से पृथक् हो जाते है । विश्व के इस पृथक्त्व की व्याख्यापद्धति को 'व्यवहार-नय' कहा जाता है ।

जब विश्व की व्याख्या समस्यमान दृष्टि से की जाती है, तब वह अद्वैत का रूप लेता है और जब उस की व्याख्या विविच्यमान दृष्टि से की जाती है, तब वह द्वैत का रूप लेता है । अद्वैत और द्वैत, दोनों एक ही विश्व के दो पहलू हैं ।[2] अद्वैत की सर्वथा अवहेलना कर द्वैत तथा द्वैत की सर्वथा अवहेलना कर अद्वैत की व्याख्या नहीं की जा सकती । जब हम केन्द्रोन्मुखी दृष्टि से देखते हैं, तब हम द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ते हैं । जब हम परिणामोन्मुखी व विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से देखते हैं तब हम अद्वैत से द्वैत की ओर बढ़ते हैं । हमारा विकेन्द्रित दशा का चरम बिन्दु केन्द्र-लक्षी है और केन्द्रित दशा का चरम बिन्दु विकेन्द्र-लक्षी है :

---

१. 'अण्णोण्णं पविसंता, दिंता ओगास मण्ण मण्णस्स ।
मेलंता विय निच्चं, सगं सभावं ण विजहंति ।।'
पंचास्तिकाय, ७५ ।

२. जैनसिद्धान्तदीपिका, प्रकाश १, सूत्र ४१-४३ ।
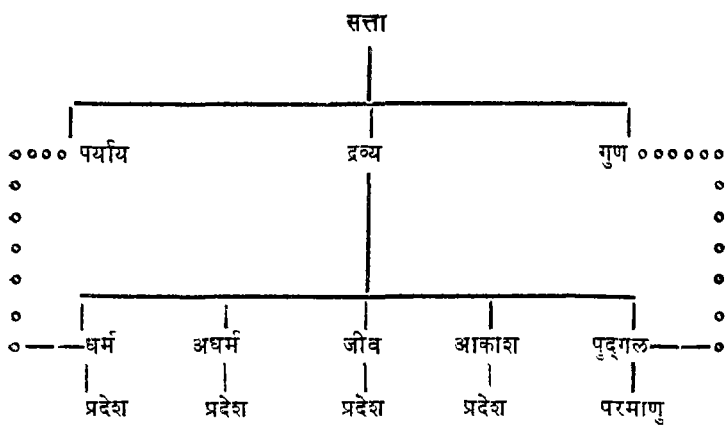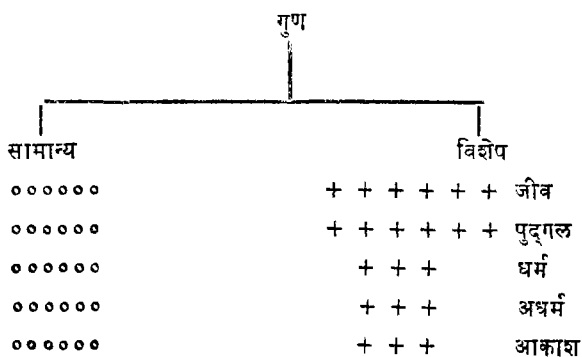
ऋजुसूत्र

अद्वैत या द्रव्यात्मक जगत् हमारे लिए प्रत्यक्ष नहीं है, परिणाम हमारे प्रत्यक्ष होते हैं। हमारा अधिकांश समय परिणामात्मक जगत् में बीतता है। इस जगत् की रचना बहुत ऋजु है। इस में सब-कुछ वर्तमान है। भूत और भावी के लिए कोई स्थान नहीं है, भूत बीत जाता है, भावी अनागत होता है, इस लिए

वे कार्यकर नहीं होते। वर्तमान अर्थ-क्रिया-सम्पन्न है, इस लिए वह वस्तु-स्थिति है। यह परिवर्तन का सिद्धान्त है। यह अन्वय की व्याख्या नहीं दे सकता। इस पद्धति को 'ऋजुसूत्र-नय' कहा जाता है।

परिणामात्मक जगत्

पूर्ववर्ती तीन दृष्टिकोण द्रव्याश्रित परिणामों की व्याख्या देते हैं और प्रस्तुत दृष्टिकोण केवल परिणामों की व्याख्या देता है। द्रव्य दृष्टिगामी होता है और पर्याय ‹दृष्टिद्वैतगामी। द्रव्य अद्वैत-- अविच्छिन्न होता है और पर्याय विच्छिन्न होता है। विच्छेद के हेतु तीन हैं : वस्तु, देश और काल। अविच्छेद और विच्छेदनय की अपेक्षा से तीन-तीन रूप बनते हैं :

द्रव्य-दृष्टि से विश्व अनेक है, अभिन्न है और नित्य है।

पर्याय-दृष्टि से विश्व अनेक है, भिन्न है और अनित्य है। निरपेक्ष रहकर दोनों दृष्टियाँ सत्य नहीं हैं। ये सापेक्ष रह कर ही पूर्ण सत्य की व्याख्या कर सकती है।

सत्य की मीमांसा

सत्य की शोध अनादि काल से चल रही है, किन्तु सत्य अनन्त रूपी है। मनुष्य अपनी दो आँखों से देख उस के एक रूप की व्याख्या करता है, इतने में वह अपना रूप-परिवर्तन कर लेता है। वह उस के दूसरे रूप की व्याख्या का यत्न करता है, इतने में उस का तीसरा रूप प्रकट हो जाता है। इस दौड़ में मनुष्य थक जाता है, उस का रूप-परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। इस प्रक्रिया में सापेक्षता ही मनुष्य को आलम्बन दे सकती है। जो एक रूप को पकड़ शेष सब रूपों से निरपेक्ष हो कर उस की व्याख्या करता है, वह उस का अंग-भंग कर डालता है।

चार्वाक के अभिमत में इन्द्रिय-गम्य ही सत्य है, उपनिषदों के अनुसार अतीन्द्रिय (या प्रज्ञागम्य) ही सत्य है। जो दृश्यमान है, वह शब्द-मात्र, विकार-मात्र या नाम-मात्र है।[1] शंकराचार्य के अनुसार जो जिस रूप में निश्चित है,

---

१. 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'—छान्दोग्य उपनिषद् ६।१।४।

यदि वह उस रूप का व्यभिचारी न हो, तो वह सत्य है। जो जिस रूप में निश्चित है, यदि वह उस रूप का व्यभिचारी बनता है, तो वह अनृत है। विकार इसी लिए अनृत है कि वह निश्चित रूप का व्यभिचारी है।[1] बौद्धों के अनुसार भेद ही सत्य है। वे वेदान्त की भाँति अभेद को सत्य नहीं मानते और चार्वाक की भाँति इन्द्रिय-गम्य को भी सत्य नहीं मानते। अतीन्द्रिय भी उस की दृष्टि में सत्य है। महात्मा बुद्ध की यह एक शिक्षा थी—जीव-प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित न मानना—अन्यथा जीवन और उस की विचित्रताएँ कार्य-कारण से उत्पन्न न हो कर, केवल आकस्मिक घटनाएँ रह जायेंगी।[2]

वैज्ञानिक जगत् में सत्य की व्याख्या व्यवहाराश्रित है। उस के अनुसार—एक यन्त्र प्रकाश को कणों से निर्मित रूप में व्यक्त करता है और दूसरा उस के तरंगों से निर्मित होने की बात बतलाता है, तो उसे उन दोनों का परस्परविरोधी नहीं, बल्कि परस्पर-पूरक स्वीकार करना चाहिए। अलग-अलग इन दोनों में से कोई भी प्रकाश की व्याख्या करने में असमर्थ है, पर साथ मिल कर वे ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं। सत्य की व्याख्या करने के लिए दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं और यह प्रश्न निरर्थक है कि इन दोनों में से कौन वस्तुतः सत्य है। प्रमाता भौतिक विज्ञान के भाववाचक कोश में वस्तुतः नामक कोई शब्द नहीं है।

आचार्य शंकर के शब्दों में—यह लोक-व्यवहार सत्य और अनृत का मिथुनीकरण है। ब्रह्म सत्य है, प्रपंच मिथ्या है। 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः।' स्याद्वाद की भाषा में लोक-व्यवहार भी दो सत्यों का मिथुनीकरण है। उस के अनुसार केन्द्र और प्रपंच (द्रव्य और परिणाम या विस्तार) दोनों सत्य हैं। एक वस्तु-सत्य या निश्चय-सत्य है, दूसरा व्यवहार-सत्य या पर्याय-सत्य है। निश्चयनय पारमार्थिक, भूतार्थ, अलौकिक, शुद्ध और सूक्ष्म है। व्यवहार-नय अपारमार्थिक, अभूतार्थ, लौकिक, अशुद्ध और स्थूल है। निश्चयनय तत्त्वार्थ की व्याख्या करता है और व्यवहारनय लौकिक सत्य या स्थूल पर्याय की व्याख्या करता है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द के अभिमत में निश्चयनय

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् २।१; शांकर भाष्य, पृ० १०३।
२. मज्झिमनिकाय, भूमिका।
३. द्रव्यानुयोगतर्कणा, ८।२३।

की दृष्टि से परमाणु ही पुद्‌गल है, व्यवहारनय की दृष्टि से स्कन्ध भी पुद्‌गल है।[१] परमाणु के गुण स्वाभाविक और स्कन्ध के गुण वैभाविक होते हैं। परमाणु में स्वभाव-पर्याय (अन्य-निरपेक्ष परिणमन) और स्कन्ध में विभाग-पर्याय (पर-सापेक्ष परिणमन) होते हैं।[२]

यदि भोज के शब्दों में—बाह्य के आन्तरिक रूप, बहुत व्यक्तियों के अभेद तथा द्रव्य-नैर्मल्य (पर-निरपेक्ष परिणमन)—द्रव्य के इस पारमार्थिक रूप की व्याख्या का दृष्टिकोण निश्चयनय है। यह मूल-स्पर्शी, है, वस्तु-सत्य को प्रकट करने वाला है।[3] व्यक्तियों के भेद, व्यक्त पर्याय और कार्य-कारण के एकत्व—द्रव्य के इस अपारमार्थिक रूप की व्याख्या का दृष्टिकोण व्यवहारनय है। यह परिणामस्पर्शी है। स्थूल सत्य को प्रगट करने वाला है।[४]

भगवान् ने पूछा, भगवन् ! प्रवाही गुड़ में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श कितने होते हैं ?

भगवान् ने कहा, गौतम ! इस की व्याख्या मैं दो दृष्टिकोणों से करता हूँ: १. व्यवहार-दृष्टि से वह मधुर है, २. निश्चय-दृष्टि से वह सब रसों से उपेत है।

इसी प्रकार भ्रमर के बारे में पूछा गया, तो भगवान् ने कहा : १. व्यवहार-दृष्टि से वह काला है, २. निश्चय-दृष्टि से वह सब वर्णों से उपेत है।[५]

व्यवहार-दृष्टि से सत्-पर्याय सत्य होता है और निश्चय-दृष्टि सत्-पर्याय व अनन्त असत्-पर्यायों से युक्त द्रव्य सत्य होता है। निश्चय-दृष्टिकोण का प्रतिपाद्य सत्य निरपेक्ष और व्यवहार-दृष्टिका प्रतिपाद्य सत्य सापेक्ष होता है, किन्तु निरपेक्ष दृष्टिकोण के बिना विश्व के केन्द्र तथा सापेक्ष दृष्टिकोण के बिना उस के विस्तार की व्याख्या नहीं की जा सकती, इस लिए निरपेक्ष और सापेक्ष सत्य जैसे परस्पर-सापेक्ष हैं, वैसे ही उन के प्रतिपादक निरपेक्ष और सापेक्ष दृष्टिकोण भी परस्पर-सापेक्ष हैं। स्याद्वाद की यही मर्यादा है।

■

---

१. नियमसार, २६।
२. वही, २७-२८।
३. द्रव्यानुयोगतर्कणा ८।२४।
४. वही, ८।२५।
५. भगवती सूत्र, १८।६।

भारतीय संस्कृति में बुद्ध और महावीर

ढाई हजार वर्ष पहले का काल धर्म-दर्शन का उत्कर्ष काल था। उस समय विश्व के अनेक अंचलों में महान् धर्म-पुरुष अवतीर्ण हुए थे।

उसी समय भारतीय क्षितिज पर दो पुरुष अवतीर्ण हुए। दोनों क्षत्रिय, दोनों राजकुमार और दोनों जन-सत्तात्मक राज्य के अधिकारी। एक का नाम था सिद्धार्थ और एक का नाम था वर्धमान। सिद्धार्थ ने नेपाल को तराई में अवस्थित कपिलवस्तु में जन्म लिया। वर्धमान का जन्म वैशाली के उपनगर क्षत्रिय कुण्डपुर में हुआ। सिद्धार्थ के माता-पिता थे माया और शुद्धोदन। वर्द्धमान के माता-पिता थे त्रिशला और सिद्धार्थ। दोनों श्रमण परम्परा के अनुयायी थे। दोनों श्रमण बने और दोनों ने उस का उन्नयन किया।

सिद्धार्थ का धर्मचक्र-प्रवर्तन

सिद्धार्थ गुरु की शोध में निकले। वे कालाम के शिष्य हुए। सिद्धान्तवादी हुए पर उन्हें मानसिक शान्ति नहीं मिली। वे वहाँ से मुक्त हो कर उद्रक के शिष्य बने। समाधि का अभ्यास किया पर उस से भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे वहाँ से मुक्त हो 'गया' के पास उरुवेल गाँव में गये। वहाँ देह-दमन की अनेक क्रियाओं का अभ्यास किया। उन का शरीर अस्थिपंजर हो गया पर शान्ति नहीं मिली। देहदमन में उन्हें कोई सार नहीं दीखा। अब वे स्वयं अपने मार्ग की शोध में लगे। वैशाखी पूर्णिमा को उन्हें बोधि-लाभ हुआ। महाभिनिष्क्रमण के छह वर्ष बाद बुद्ध बने। सारनाथ में उन्होंने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया।

वर्द्धमान का धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन

वर्द्धमान प्रारम्भ से ही अपने निश्चित मार्ग पर चले। उन्होंने कोई

गुरु नहीं बनाया, न केवल कठोर तप ही तपा और न केवल ध्यान ही किया। तप भी तपा और ध्यान भी किया। उन्हें अपनी साधन-पद्धति से पूर्ण सन्तोष था। महाभिनिष्क्रमण के साढ़े बारह वर्ष के पश्चात् उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हुई। वे वर्द्धमान से महावीर बन गये। मध्यम पावापुरी में उन्होंने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति श्रमण और वैदिक—इन दो धाराओं का संगम है। फिर भी कुछ विद्वान् इस विषय में उलझे हुए हैं, श्रमण संस्कृति को वैदिक संस्कृति की शाखा मानने में गौरव का अनुभव करते हैं। लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है—"जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक संस्कृति की ही शाखाएँ हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हें वैदिक नहीं मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है मूलतः इन शाखाओं के वेदविरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनों और बौद्धों की तीन अन्तिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, संसार का बन्धन और मोक्ष या मुक्ति--अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं।"

"हिन्दू संस्कृति को वैदिक संस्कृति का विकास तथा विस्तार मानने में बीती हुई सदी के उन आधुनिक विद्वानों को आपत्ति है जिन्होंने भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म का अध्ययन किया है। वे इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि विद्यमान हिन्दू संस्कृति असल में वैदिक तथा अवैदिक, आर्य और अनार्य लोगों की विविध संस्कृतियों का सम्मिश्रण स्वरूप है। इन मनीषियों के मत में मूर्तिपूजा करने वालों की पौराणिक संस्कृति अवैदिक एवं अनार्य समूहों-द्वारा निर्मित संस्कृतियों की उत्तराधिकारिणी है और जैन तथा बौद्ध धर्म वैदिको धर्म के प्रतिद्वन्द्वी हैं, वैदिकों को परास्त करने वाले प्रबल विद्रोही हैं। इनके कथनानुसार विद्यमान हिन्दू संस्कृति भिन्न-भिन्न विचारकों की चार धाराओं के मेल से बनी है। पहली धारा है वेदों के पूर्ववर्ती अनार्यों की मूल संस्कृति की, दूसरी वेदों के पूर्ववर्ती काल के भारतीय अनार्यों पर विजय पाने वाले आर्यों द्वारा स्थापित वैदिक संस्कृति की, तीसरी वेदों के विरुद्ध विद्रोह करने वाले जैनों तथा बौद्धों के द्वारा निर्मित संस्कृति की और चौथी वेद-पूर्व संस्कृति के आविष्कार के रूप से अवस्थित

मूर्तिपूजक पौराणिक धर्म की[1]।"

शास्त्री जी ने जिन अन्तिम कल्पनाओं--कर्म-विपाक, संसार का बन्धन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है, वे मूलतः अवैदिक हैं।

वैदिक साहित्य में आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नहीं है। इन के बिना कर्म-विपाक और बन्धन की कल्पना का विशेष अर्थ नहीं रहता। ए० ए० मैकडोनेल का अभिमत है--"बाद में विकसित पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदों में कोई संकेत नहीं मिलता, किन्तु एक ब्राह्मण में यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् संस्कारादि नहीं करते वह मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते हैं।[2]

वैदिक संस्कृति के मूलतत्त्व

वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व हैं—यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था। यज्ञ के मुख्य प्रकार तीन हैं—पाक-यज्ञ, हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ।[3]

ऋण तीन प्रकार के माने जाते थे--देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण। यज्ञ और होम से देव-ऋण चुकाया जाता है। वेदाध्ययन के द्वारा ऋषि-ऋण चुकाया जाता है। सन्तान उत्पन्न कर पितृ-ऋण चुकाया जाता है।[4] शतपथ ब्राह्मण में चौथे ऋण—मनुष्य ऋण का भी उल्लेख है। उसे औदार्य या दान से चुकाया जाता है[5]।

वर्ण-व्यवस्था का आधार है सृष्टि का उत्पत्ति-क्रम—ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय बाहु से, वैश्य ऊरु से और शूद्र पैरों से।[6]

यज्ञ की कल्पना लौकिक और पारलौकिक दोनों है। उस का लौकिक फल है सुख-शान्ति और पारलौकिक फल है स्वर्ग।[7] ऋण और वर्ण-व्यवस्था—इन

१. वैदिक संस्कृति का विकास, पृष्ठ १५,१६।
२. वैदिक माइथॉलॉजी, पृष्ठ ३१६।
३. विशद विवरण के लिए देखिए—वैदिक-कोश, पृष्ठ ३९१–४२५।
४. तैत्तिरीयसंहिता ६।३।१०।५।
५. शतपथ ब्राह्मण १।७।२।१–६
६. 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः, पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥'—ऋग्वेद संहिता १०।९०।१२
७. वैदिक माइथॉलॉजी, पृष्ठ ३२०।

दानों का फल है समाज की संस्थापना और संघटना। तीन ऋण ब्रह्मचर्य और गृहस्थ इन दो आश्रमों के मूल हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम में रह कर वेदाध्ययन किया जाता और गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट हो कर सन्तान का उत्पादन। वानप्रस्थ और संन्यास जैसे आश्रम उस व्यवस्था में अपेक्षित नहीं थे।

वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त ने जातिवाद को तात्त्विक रूप दिया और ऊंच-नीच आदि विषमताओं की सृष्टि की।

श्रमण-संस्कृति के मूल तत्त्व

श्रमण-संस्कृति के मूल तत्त्व हैं—व्रत, संन्यास और समता। व्रत और संन्यास का मूल है मोक्षवाद। समता का मूल है आत्मवाद। आत्मा का ध्येय है बन्धन से मुक्ति की ओर प्रयाण। श्रमण-संस्कृति में समाश्वस्त समाज का ध्येय भी यही है। इसी लिए सामाजिक जीवन समानता की अनुभूति से परिपूर्ण हुआ। आर्थिक जीवन को व्रत से नियमित किया गया। वैयक्तिक जीवन को संन्यास से साधा गया। इस प्रकार जीवन के तीनों पक्ष—वैयक्तिक, आर्थिक और सामाजिक-विशुद्धि से प्रभावित किये गये। इन्हीं तत्त्वों के आलोक में बुद्ध और महावीर ने वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्वों—यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था।

संस्कृति-संगम

वैदिक और श्रमण संस्कृति का यह विचार-द्वन्द्व बुद्ध-महावीर कालीन नहीं था। वह बहुत पहले से ही चला आ रहा था। इस में कोई सन्देह नहीं कि भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध ने उस विचार-क्रान्ति को इतना तीव्र स्वर दिया कि हिंसा अहिंसा के सामने निष्प्राण बन गयी। 'अहिंसा परमो धर्मः' का स्वर प्रबल हो उठा। 'अपुत्रस्यगतिर्नास्ति' के स्थान पर संन्यास की महिमा गायी जाने लगी। जन्मना जाति का स्वर कर्मणा जाति के स्वर में विलीन हो गया। भगवान् पार्श्व के काल में श्रमण और वैदिक संस्कृति का जो संगम आरम्भ हुआ था, वह अपने पूरे यौवन पर पहुँच गया।

श्रमण परम्परा मुख्यतः क्षत्रियों और वैदिक परम्परा ब्राह्मणों की है। क्षत्रियों

ने आत्म-विद्या और अहिंसा का विस्तार किया और आगे चल वे दोनों परम्पराओं की संगम-स्थली बन गयीं। क्षत्रियों ने आर्य शब्द वैदिक आर्यों से लिया।

क्षत्रियों ने वैदिक परम्परा या आर्य जाति को महत्त्व देते हुए आर्य शब्द को अपनाया किन्तु उस का अर्थ अपनी परम्परा के अनुसार किया। वैदिक आर्य यज्ञानुष्ठान में हिंसा करते थे। उस के प्रतिपक्ष में क्षत्रिय परम्परा में यह घोष उठा कि प्राणियों की हिंसा करने वाला आर्य नहीं होता। आर्य वह होता है जो किसी की हिंसा न करे, अर्थात् अहिंसा ही आर्य है।[1] सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हन्तव्य हैं, यह अनार्य वचन है। सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व हन्तव्य नहीं हैं, यह आर्य वचन है।[2] इस प्रकार भारतीय संस्कृति का वर्तमान रूप अनेक धाराओं का संगम है।

बुद्ध-महावीर की भारतीय संस्कृति को देन

व्रत, संन्यास और समता की स्थापना तथा यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था का प्रतिकार बुद्ध और महावीर की देन नहीं है, वह श्रमण-परम्परा की देन है। उस में उन दोनों व्यक्तियों का महान् योग है। उन्होंने प्राचीन परम्परा की समृद्धि में केवल योग ही नहीं दिया किन्तु उसे नये उन्मेष भी दिये।

बुद्ध ने दो नये दृष्टिकोण प्रस्तुत किये—प्रतीत्यसमुत्पादवाद और आर्य-चतुष्टय।

प्रतीत्यसमुत्पाद—

'भिक्षुओ! जो कोई प्रतीत्यसमुत्पाद को समझता है वह धर्म को समझता है। गो से दूध, दूध से दही, दही से मक्खन, मक्खन से घी, घी से घीमण्डा होता है। जिस समय में दूध होता है, उस समय न उसे दही कहते हैं, न मक्खन न घी, न घी का माण्डा। जिस समय वह दही होता है, उस समय न उसे दूध कहते हैं, न मक्खन, न घी, न घी का माण्डा। इसी प्रकार भिक्षुओ, जिस समय मेरा

---

१. धम्मपद, धम्मट्ठवग्ग, १५।

न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं, अरियो ति पवुच्चति॥ १५॥

२. आचारांग १।४।२

भूतकाल में जन्म था उस समय मेरा भूतकाल का जन्म ही सत्य था, यह वर्तमान और भविष्यत् का जन्म असत्य था। जब मेरा भविष्यत् काल का जन्म होता, उस समय मेरा भविष्यत्काल का जन्म ही सत्य होगा, यह वर्तमान और भूतकाल का जन्म असत्य होगा। यह जो अब मेरा वर्तमान में जन्म है, सो इस समय मेरा यही जन्म सत्य है, भूतकाल का और भविष्यत्काल का जन्म असत्य है।

भिक्षुओ, यह लौकिक संज्ञा है, लौकिक निरुक्तियाँ हैं, लौकिक व्यवहार हैं, लौकिक प्रज्ञप्तियाँ हैं—इन का तथागत व्यवहार करते हैं, लेकिन इन में फँसते नहीं। भिक्षुओ, 'जीवन (आत्मा) और शरीर भिन्न-भिन्न हैं' ऐसा मत रहने से श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। और जीव (आत्मा) तथा शरीर दोनों एक हैं, ऐसा मत रहने से भी श्रेष्ठ जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता।

इस लिए भिक्षुओ, इन दोनों सिरे की बातों को छोड़ कर तथागत बीच के धर्म का उपदेश देते हैं—

अविद्या के होने से संस्कार, संस्कार के होने से विज्ञान, विज्ञान के होने से नाम रूप, नाम रूप के होने से छह आयतन, छह आयतन के होने से स्पर्श, स्पर्श के होने से भव, भव के होने से जन्म, जन्म के होने से बुढ़ापा, मरना, शोक, रोना-पीटना, दुःख, मानसिक चिन्ता तथा परेशानी होती है।

इस प्रकार इस सारे के सारे दुःख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। भिक्षुओ, इसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं।''[१]

आर्य-चतुष्टय

आर्य सत्य चार हैं—१. दुःख, २. दुःख समुदय, ३. दुःख निरोध, ४. दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग।

''भिक्षुओ ! दुःख-आर्य सत्य क्या है ?

पैदा होना दुःख है, बूढ़ा होना दुःख है, मरना दुःख है; शोक करना दुःख है, रोना-पीटना दुःख है, पीड़ित होना दुःख है, चिन्तित होना दुःख है, परेशान होना

१. दीघनिकाय, पृष्ठ २२।

दुःख है, इच्छा की पूर्ति न होना दुःख है, थोड़े में कहना हो तो पाँच उपादान स्कन्ध ही दुःख है।[1]"

"भिक्षुओ! यह जो फिर-फिर जन्म का कारण है, यह जो लोभ तथा राग से युक्त है, यह जो कहीं-कहीं मज़ा लेती है, यह जो तृष्णा है, जैसे काम-तृष्णा, भव-तृष्णा तथा विभव-तृष्णा यह तृष्णा ही दुःख के समुदय के बारे में आर्य सत्य है।[2]"

"भिक्षुओ! दुःख के निरोध के बारे में आर्य सत्य क्या है? उसी तृष्णा से सम्पूर्ण वैराग्य, उस तृष्णा का निरोध, त्याग, परित्याग, उस तृष्णा से मुक्ति, अनासक्ति—यही दुःख के निरोध के बारे में आर्य सत्य है।"[3]

अष्टांगिक मार्ग दुःख निरोध की ओर ले जाने वाला है, जो कि यूँ है—

१. सम्यक् दृष्टि २. सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
३. सम्यक् वाणी ४. सम्यक् कर्मान्त ५. सम्यक् आजीविका	शील
६. सम्यक् व्यायाम ७. सम्यक् स्मृति ८. सम्यक् समाधि	समाधि[4]

महावीर ने तीन नये दृष्टिकोण प्रस्तुत किये—१. त्रिपदी, २. रत्नत्रयी, ३. स्याद्वाद।

त्रिपदी—

गौतम ने पूछा, "भन्ते! तत्त्व क्या है?"

भगवान् ने उत्तर दिया, "उत्पन्न होना।"

---

१. दीघनिकाय, पृष्ठ २२।
२. वही, पृष्ठ २२।
३. वही, पृष्ठ २२।
४. संयुक्त निकाय, पृष्ठ २२।

फिर पूछा, "भन्ते ! तत्त्व क्या है ?"

फिर उत्तर मिला, "विपन्न होना ।"

प्रश्न आगे बढ़ा, "तत्त्व क्या है ?"

उत्तर मिला, "बने रहना ।"

फलित यह हुआ—जो उत्पन्न और विपन्न होते हुए भी बना रहता है अथवा जो अपना अस्तित्व रखते हुए भी उत्पन्न और विपन्न होता है, वही सत् है और जो सत् है वही तत्त्व है ।

रत्नत्रयी

गौतम ने पूछा, "भन्ते ! क्या ज्ञानयोग मोक्ष का मार्ग है ?"

भगवान् : "नहीं ।"

"तो भन्ते ! दर्शन योग (भक्ति-योग) मोक्ष का मार्ग है ?"

भगवान् : "नहीं ।"

"तो भन्ते ! चारित्र-योग (कर्म-योग) मोक्ष का मार्ग है ?"

भगवान् : "नहीं ।"

"तो फिर मोक्ष का मार्ग क्या है ?"

भगवान् : "ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्विति ही मोक्ष का मार्ग है ।"

स्याद्वाद

महावीर सत्यांश और पूर्ण सत्य इन दोनों को न सर्वथा अभिन्न मानते थे और न सर्वथा भिन्न । पूर्णरूप से सर्वथा वियुक्त हो कर सत्यांश मिथ्या हो जाता है और पूर्ण सत्य से सर्वथा अभिन्न हो कर वह वचन द्वारा अगम्य बन जाता है । अतः सत्य की उपलब्धि के लिए अनेकान्त और उस के प्रतिपादन के लिए स्याद्वाद अपेक्षित है । एकान्तवादी धारणाएँ इसी लिए मिथ्या हैं कि वे पूर्ण सत्य से वियुक्त हो जाती हैं । नित्यता मिथ्या नहीं है, क्योंकि एक बार भी जिस का अस्तित्व प्रमाणित होता है, उस का अस्तित्व पहले भी था और बाद में भी होगा । अनित्यता भी मिथ्या नहीं है, क्योंकि रूपान्तरण की प्रक्रिया अस्तित्व का अनिवार्य अंग है । किन्तु नित्यता और अनित्यता दोनों अविच्छिन्न हैं । वे सापेक्ष

रह कर सत्यांश बनते हैं और निरपेक्ष स्थिति में वे मिथ्या बन जाते हैं। खुले रत्न, रत्न ही कहलायेंगे। एक धागे में पिरो लेने पर उस का नाम हार होगा। इसी प्रकार जो दार्शनिक दृष्टियाँ निरपेक्ष रहती हैं, वे सम्यग्-दर्शन नहीं कहलाती। वे परस्पर सापेक्ष हो कर ही सम्यग्-दर्शन कहलाती हैं।[1]

महावीर की इस चिन्तनधारा ने सत्य को सर्व-संग्रही बना दिया। उस के फलित हुए—सह-अस्तित्व और समन्वय। इन तत्त्वों ने भारतीय मानस को इतना प्रभावित किया कि ये भारतीय-संस्कृति के मूल आधार बन गये।

■

१. सन्मति प्रकरण १।२२-२५

भगवान् महावीर ज्ञातपुत्र थे या नागपुत्र ?

भगवान् महावीर के लिए कासव,[1] वैसालिय,[2] नाय, नायपुत्त, नायकुलचन्द, विदेह, विदेहदिन्न, विदेहजच्च और विदेहसूमाल[3]—ये विशेषण प्रयुक्त किये जाते हैं। प्रथम तीन विशेषण पितृपक्ष से सम्बन्धित हैं। अगले चार विशेषण जाति—मातृपक्ष से सम्बन्धित हैं। काश्यप का सम्बन्ध गोत्र से है। वैशालिक के अर्थ अनेक मिलते हैं। उस का निश्चित अर्थ अभी अन्वेषणीय है।

कासव

भगवान् के पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय काश्यप गोत्री थे।[4] इस लिए भगवान् महावीर भी काश्यप-गोत्री कहलाये।[5] धनंजय ने अपनी नाममाला में भगवान् महावीर का एक नाम 'अन्त्यकाश्यप' माना है।[6] प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ 'आदिकाश्यप' थे और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर 'अन्त्यकाश्यप'। काश्यप इक्ष्वाकुवंश का ही एक गोत्र था। भगवान् पार्श्व के पिता विश्वसेन को इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री कहा गया है।[7] भगवान् महावीर भी इक्ष्वाकुवंशी थे। भगवान् सुव्रत और अरिष्टनेमि गौतम गोत्री हरिवंशी थे। शेष बाईस तीर्थंकर काश्यपगोत्री और इक्ष्वाकुवंशी थे।[8]

---

१. दशवैकालिक ४।१
२. उत्तराध्ययन ६।८
३. कल्पसूत्र ११०
४. 'समणस्सणं भगवओ महावीरस्स पिआ कासवगोत्तेण।'—आचारांग २।१५
५. 'समणे भगवं महावीरे कासवगोत्ते।'—आचारांग २।१५
६. धनंजय नाममाला ११५, पृ० ५८
७. 'तत्पतिर्विश्वसेनाख्योऽप्यभूद्द विश्वगुणैकभूः।
   काश्यपाख्यसुगोत्रस्थेक्ष्वाकुवंशरिवांशुमान्॥'
८. (क) विशेषावश्यक भाष्य १३८७। (ख) 'गोयमगुत्ता हरिवंशसंभवा नेमिसुव्वया दोवि।
   कासवगोत्ता इक्खागु-वंसजा सेस बावीसं।' सप्ततिशतस्थान १०५

वेसालिय

वैशालिक विशेषण का सम्बन्ध भगवान् की माता या जन्मभूमि से होना चाहिए। उत्तराध्ययन चूर्णि में इस के कई अर्थ बताये हैं—

१. उन के गुण विशाल थे।

२. वे इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुए थे।

३. उन की माता वैशाली थी।

४. उन का कुल विशाल था।

५. उन का प्रवचन विशाल था।

—इस लिए वे वैशालिक कहलाये।[1]

ये अर्थ हृदय को स्पर्श नहीं करते। भगवान् महावीर को अनेक प्रसंगों में नायपुत्त कहा गया है।[2] बौद्ध-पिटकों में भगवान् महावीर का उल्लेख 'निग्गण्ठ नातपुत्त' के नाम से होता है।[3] 'नाय' और 'नात' का संस्कृत रूप 'ज्ञात' होता है। इस लिए भगवान् को ज्ञात-पुत्र माना जाता है। प्रश्न यह होता है कि यह ज्ञात क्या है? कोई व्यक्ति है अथवा कुल। नामकरण की पद्धति के अनुसार माता-पिता या कुल के आगे पुत्र या सुत शब्द का प्रयोग किया जाता था। जैन साहित्य में 'थावच्चापुत्त' आदि और बौद्ध साहित्य में 'सारीपुत्त' आदि मातृपरक नाम हैं। सिद्धत्थपुत्त यह पितृपरक नाम है। 'नाय' शब्द माता-पिता से सम्बन्धित नहीं है। यह कुल का नाम है। अनुयोगद्वार में नामकरण की पद्धति का विशद विवरण है। वहाँ स्थापना नाम का एक प्रकार है, कुल नाम। उस के विवेचन में बताया गया है कि उग्ग, भोग, राइण्ण (राजन्य) खत्तिय, इक्खाग, णात और कोरव्व—ये कुल नाम हैं।[4] भगवान् महावीर का कुल 'नाय' या 'नात' था, इस लिए वे ज्ञातपुत्र या ज्ञातसुत कहलाते थे। राहुल जी आदि

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० १५६-१५७

२. आचारांग १।९।४७१; सूत्रकृतांग १।६।२४; दशवैकालिक ५।२।५१; उत्तराध्ययन ६।१७

३. दीघनिकाय सामंत्रफलसुत्त १८।२१; विनयपिटक महावग्ग, पृ० २४२

४. 'से किं तं कुल नामे ? उग्गे, भोगे, राइण्णे, खत्तिए, इक्खागे, णाते, कोरव्वे'—अनुयोगद्वार, सूत्र १३०

कुछ आधुनिक विद्वान् 'नाय' का संस्कृत रूप ज्ञातृ मानते हैं। इस ज्ञातृ शब्द के आधार पर ही वे ज्ञातृ का सम्बन्ध बिहार के भूमिहारों की जथरिया जाति से जोड़ते हैं।[1] किन्तु प्रतीत होता है कि ज्ञात और ज्ञातृ—ये दोनों यथार्थ नहीं हैं। भगवान् का कुल 'नाग' होना चाहिए। 'णायपुत' की संस्कृत छाया 'नागपुत्त' भी हो सकती है। चूर्णियाँ प्राकृत में हैं। उन में णाय या णात ही मिलता है। क्वचित् ज्ञात भी मिलता है। टीकाकाल में यह भ्रम पुष्ट हुआ है। अधिकांश टीकाकारों का ध्यान ज्ञात शब्द की ओर गया है। हमारी जानकारी में अभयदेव सूरि ही पहले टीकाकार हैं, जिन्होंने 'नाय' शब्द का अर्थ 'नाग' भी किया है। उन्होंने औपपातिक सूत्र १४ की वृत्ति में नाय का अर्थ ज्ञात (इक्ष्वाकुवंश का एक भेद) अथवा नाग (नागवंश) किया है।[2] इसी आगम के २७ वें सूत्र की वृत्ति में उन्होंने नाय का मुख्य अर्थ नागवंशी और गौणरूप में ज्ञातवंशी किया है।[3] सूत्रकृतांग (२।१।९) में इक्खागा इक्खागपुत्ता, नाया नायपुत्ता, कोरव्वा कोरव्वपुत्ता—यह पाठ है। इस सूत्र में पाठ-संशोधन के लिए हम जिन दो हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग कर रहे हैं, उन में एक प्रति (जो वि० १५८१ में लिखित है) में नाया, नायपुत्ता के स्थान में नागा, नागपुत्ता पाठ है। इतिहास में ज्ञात नाम का कोई प्रसिद्ध वंश नहीं है। नागवंश बहुत प्रसिद्ध है। भगवान् महावीर के युग में नाग लोग वैशाली में या उस के आसपास रहते थे।

वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक और अजातशत्रु कोणिक के युद्ध में वरुण का उल्लेख है।[4] उस का एक विशेषण है 'नागनत्तुए' (नत्तुय-नप्तृक—पौत्र या दौहित्र)। वरुण नाग का पौत्र या दौहित्र था। विष्णुपुराण (४।२४।६३) के अनुसार नौ नागवंशी राजा पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा में राज्य करते थे। राजस्थान में भी नाग लोगों का शासन था।[5] कोल्लाग सन्निवेश में नायकुल की

---

१. महावीर वर्धमान, पृ० १६

२. 'उग्गपव्वइया, भोगपव्वइया,राइण्णनायकोरव्वखत्तियपव्वइया—ज्ञाता : इक्ष्वाकुवंशविशेषभूताः, नागा वा नागवंशप्रसूताः।'—औपपातिक वृत्ति, पत्र ५०

३. 'क्वचित् पठ्यते—इक्खागा, नाया, कोरव्वा—नायंति नागवंश्या वा'—वही पत्र ११०

४. भगवती ७।६

५. राजपूताने का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २३०-२३२

पौषधशाला थी ।[1] अहिच्छत्र (बरेली-रामनगर) में महात्मा बुद्ध के समय नाग राजाओं का शासन था ।

उत्तर क्षत्रिय कुण्ड के बाह्य भाग में 'नायसण्ड'—नागवन का भी उल्लेख मिलता है ।[2] जैन आगमों में अनेक बार उग्र, भोज, राजन्य, कौरव और क्षत्रिय के साथ नाग का उल्लेख हुआ है ।[3] तीर्थंकर आदि महापुरुष इन्हीं कुलों में उत्पन्न हुए हैं ।[4]

नागों और कौरवों का परस्पर संघर्ष भी चलता था । तक्ष नामक नाग ने परीक्षित को मार डाला । उस का बदला उस के पुत्र जनमेजय ने लिया । नागों को तक्षशिला से हटा दिया और अनेक नागों को अग्नि में डाला ।[5] इस प्रकार नागकुल का इतिहास बहुत समृद्ध और दीर्घकालीन है । भारत के उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में प्राप्त है । नेपाल के इतिहास में भी नाग राजाओं का उल्लेख मिलता है ।[6]

श्रेणिक बिम्बसार हर्यंक वंश का था । हर्यंश वंश भी विस्तृत नाग जाति की ही एक शाखा है । अतः इस तथ्य में कुछ भी फ़र्क़ नहीं पड़ता कि बार्हद्रथ वंश के बाद मगध में नागों की सत्ता स्थापित हुई । पर मगध में नागों की सत्ता स्थापित होने के पूर्व काशी में नागों की सत्ता स्थापित हो चुकी थी । ई० पू० ९०० में काशी में नागों की सत्ता स्थापित थी । वस्तुतः परीक्षित की मृत्यु के बाद नाग पुनः प्रबल हो गये थे । काशी नाग जाति का पीठस्थान था । काशी के देवता शंकर महादेव थे । तीन लोक से न्यारी और शिव के त्रिशूल पर काशी का अर्थ है कि काशी के नाग क्षत्रियों ने वैदिक आर्यों की प्रधानता को बहुत दिनों तक नहीं माना था । जैन तीर्थंकरों में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी के नाग क्षत्रिय थे । राजकुमार थे । वह काशी के ब्रह्मदत्त राजाओं की परम्परा में

१. उपासकदशा १।६७
२. आचारांग २।१५
३. औपपातिक सूत्र १४।२७; अनुयोगद्वार सूत्र १३०
४. 'उग्गकुलभोगखत्तियकुलेसु इक्खाग नागकारव्वे । हरिवंसे य विसाले, जायंति तहिं पुरिस-सीहा ॥'—आवश्यक निर्युक्ति भाष्य गाथा ५०, पत्र २५५
५. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ५२३
६. द हिस्ट्री ऑव नेपाल, पृ० ५०-५४

थे। पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और उन का काल ई० पू० ८०० है।[1] इन सब से सिद्ध है कि यह पूर्व में नागों के अभ्युत्थान का काल था।

इक्ष्वाकु काश्यप और नाग

भगवान् महावीर इक्ष्वाकुवंशी और काश्यप-गोत्री क्षत्रिय थे। फिर वे नाग कैसे हो सकते हैं ? सहज हो यह प्रश्न होता है पर नागवंश की उत्पत्ति इक्ष्वाकु-वंश से ही हुई है।[2] इक्ष्वाकुवंशी काश्यप-गोत्री हैं ही। महाभारत और भागवत पुराण के अनुसार नागों की उत्पत्ति कश्यप मुनि की पत्नी कद्रू से मानी जाती है[3]। महाभारत और विष्णुपुराण में जहाँ इन के वर्तमान वंश और गोत्र का उल्लेख मिलता है, वहाँ इन्हें नागवंशी और जहाँ इन के मूल वंश और गोत्र का उल्लेख मिलता है, वहाँ इन्हें इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री कहा गया है।

जैन-परम्परा और नागवंश

नाग आर्य-पूर्व जाति है। जैन-धर्म से इस का सम्बन्ध बहुत पुराना है। कच्छ और महाकक्ष के पुत्र नमि और विनमि भगवान् ऋषभ के साथ हो गये। वे भगवान् से राज्य माँग रहे थे किन्तु भगवान् मौन थे। उस समय नागराज भगवान् की वन्दना करने आया। उस ने नमि और विनमि को विद्याएँ दीं और वैताढ्य पर्वत पर उन के लिए उत्तरश्रेणि में ६० और दक्षिण श्रेणि में ५० नगर बनाये।[4]

जैन परम्परा में नाग पूजा का इतिहास भी लगभग उसी समय का है।[5]

आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार पूजा अवैदिक है। उन्होंने लिखा है—

१. मगध (इतिहास और संस्कृति) लेखक, बैजनाथ सिंह 'विनोद', पृष्ठ १०
२. भगवान् पार्श्वनाथ, भाग १. पृष्ठ ५२३
३. (क) 'हर्षादप्रतिमां प्रीतिं प्रापतुः स्म वरस्त्रियौ।
बव्रे कद्रूः सुतान् नागान् सहस्रं तुल्यवर्चसः॥'—महाभारत आदिपर्व आस्तीकपर्व १६।८।
(ख) विष्णुपुराण १।२१।१६–२१
४. 'नमिविनमीण जायण, नागिन्दो वेज्जदाण वेयड्ढे।
उत्तरदाहिणसेढी, सट्ठी पन्नास नगराई॥'—आवश्यक निर्युक्ति ३४०
५. 'जन्नानागाइयाण पूयातो।'—आवश्यक निर्युक्ति २८

"बहुत लोगों की धारणा है कि हमारी पूजा नामक क्रिया भी वेद-बाह्य है। वेद में यह शब्द भी नहीं है। इस का मूल अवैदिक भाषाओं से मिलता है।[1]" अनेक विद्वान् कह देते हैं, भगवान् महावीर ने वैदिक क्रियाकाण्डों व यज्ञों के प्रति विद्रोह किया। किन्तु यह इतिहास की अनभिज्ञता का ही परिणाम है। वे यज्ञ आदि कर्मकाण्डों के प्रति विद्रोह करने के लिए ब्राह्मण धर्म से पृथक् नहीं हुए। यह तो मूलतः ही एक संस्कृति-भेद है। वे वंश-परम्परा से ही श्रमण-धर्म के अनुयायी थे। कर्मकाण्ड और अज्ञान तप का उन्हों ने जो प्रतिरोध किया, वह उन्हे परम्परा से लब्ध था। हम भगवान् को नागवंश की दृष्टि से देखेंगे तो हमारी यह भ्रान्ति सहज ही दूर हो जायेगी। तीर्थ, तीर्थकर, आदि शब्द ही इस बात के सूचक हैं कि उन का परम्परा अवैदिक रही है।

आचार्य छितिमोहन सेन के शब्दों मे—"वैदिक आर्यों का मिलन स्थान यज्ञ था, अवैदिकों का तीर्थ। वह तीर्थ शब्द भी वेद-बाह्य है। इस लिए वेद-विरोधी मत को तैर्थिक कहते हैं (कारण्ड व्यूह १०–६२)[2]।"

भगवान् महावीर को निर्वाणवादियों में श्रेष्ठ कहा गया है।[3] निर्वाण का मूल सिद्धान्त श्रमण-परम्परा का है। यह विशेषण ब्राह्मण परम्परा से उन के परम्परा-भेद का सूचक है। भगवान् बुद्ध की स्थिति भी यही है। उन का वंश भी भगवान् पार्श्व से प्रभावित था। डॉ० स्टीवेन्सन आदि अनेक विद्वान् इस तथ्य पर प्रकाश डाल चुके है। कर्मकाण्ड के विरोध व अहिंसा के प्रतिपादन में भगवान् महावीर तथा भगवान् बुद्ध दोनों एक ही परम्परा के उत्तराधिकारी थे। बुद्ध शाक्यवंशी थे तो महावीर नागवंशी। जिस नागवंश का जैन धर्म के साथ चिर-पुराण सम्बन्ध रहा, वह भगवान् पार्श्व का अनुयायी था।

नात या णात कैसे ?

भगवान् महावीर को नागवंशी माना जाये तो उन के लिए 'नात' या 'णात' का प्रयोग कैसे हो सकता है ? 'नाय' का संस्कृत रूप 'नाग' हो सकता है किन्तु

१. भारतवर्ष में जातिभेद. पृष्ठ ८८
२. वही, पृष्ठ ८४
३. 'निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते।'— सूत्रकृतांग १।६।२१

'नात' का 'ज्ञात' होता है 'नाग' नहीं। यह प्रश्न अवश्य ही एक बार भ्रम में डालने वाला है, किन्तु हम आगमों के शब्द-प्रयोगों की ओर ध्यान देते हैं तो वह भ्रम स्वयं निरावृत हो जाता है। उन में 'त' का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। अनेक वर्णों का 'त' का आदेश होता है। कुछ इस प्रकार हैं —

ग—(१) पत्तोवग	पत्तोवत्त	(स्थानांग १२८)
ज—(२) कण्हराजी	कण्हराती	(स्थानांग ६१२)
ओ—(३) सव्वाओ	सव्वातो	(स्थानांग ३८९)
द—(४) पदेसिया	पतेसिता	(स्थानांग ५९३)
य—(५) रसायणे	रसातणे	(स्थानांग ६११)
य—(६) सयं	सतं	(स्थानांग ११३)

ये थोड़े-से उदाहरण हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक लिखित आगम के आदर्शों में 'त' का प्रयोग अ, आ, इ, उ, ए, ओ, स्वरों तथा दसों वर्णों के स्थान में मिलता है। 'नाग' का 'नात' या 'ग' के स्थान में 'य' होने के पश्चात् 'नाय' का 'नात' रूप मिलता है, वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है तथा 'नात' में 'त' होने के कारण ही हम उस का संस्कृत रूप ज्ञात करने के लिए विवश भी नहीं हैं।

जैन-आगमों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें पता चलेगा कि वर्ण परिवर्तन के कारण समय-समय पर व्याख्याकारों को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है और उन की व्याख्याओं में भ्रम भी हुआ है। हम यहाँ एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करेंगे। सूत्रकृतांग (१।७।१५) में कुछ जलचर जन्तुओं के नाम आये हैं। वहाँ एक शब्द है 'उद्दा'। प्राचीन लिपि में संयोगी 'द्द' और संयोगी 'ट्ट' लगभग समान रूप से लिखे जाते हैं। संयोगी 'ट्ट' को नीचे के पार्श्व में थोड़ा-सा मरोड़ा जाता है। एक छोटा-सा बिन्दु बनाया जाता है। इस लिए संयुक्त 'द्द' और संयुक्त 'ट्ट' को पढ़ने में बहुत बार भ्रम हो जाता है। यही कारण है कि चूर्णिकाल में जो 'उद्दा' था, टीकाकाल में वह 'उट्टा' बन गया। इसी लिए टीकाकार ने उस का अर्थ—'उष्ट्राः—जलचर विशेषाः' कर दिया। वस्तुतः 'उद्दा' का प्रयोग ऊदबिलाव के लिए हुआ है। चूर्णिकार ने उस का वर्णन इन शब्दों में किया है—'उद्द' बिल्ली जितने आकार के होते हैं, वे महा-

नदियों में डूबते-तैरते देखे जाते हैं[1]। कर्नल ह्वाइट[2] ने 'ऊदबिलाव' का जो आँखों-देखा वर्णन किया है, उस की हम चूर्णि से तुलना करते हैं तो पाठ 'उद्दा' ही सिद्ध होता है। 'उद्दा' शब्द 'ऊद' के बहुत निकट है। 'उद्रा' इस से बहुत दूर पड़ता है। बिलाव इस लिए कहा जाता है कि बिल्ली-जैसा होता है।

इस प्रकार अनेक स्थलों में अर्थ-भ्रम हुआ है। इसी लिए बहुत स्थलों में टीकाकार चूर्णिकारों से भिन्न मार्ग अपनाते हैं। 'नाय' शब्द के अर्थ में भी लगता है कि भ्रम हुआ है और नाग के बदले ज्ञात का प्रचलन हो गया। हम उक्त सारे तथ्यों के आधार पर विचारें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि भगवान् महावीर ज्ञातपुत्र नहीं किन्तु नागपुत्र थे।

●

---

१. 'उद्दा णाम मज्जारपमाणा महानदीसु दहयम्मे उम्मज्जणिम्मज्जियं करेमाणा'।

—सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० १६७

२. नवनीत, पृ० ६०, मई १९६२।

भगवान् महावीर और नागवंश

भगवान् महावीर इक्ष्वाकुवंशी और काश्यपगोत्री थे—यह निर्विवाद तथ्य है। भगवान् ज्ञातवंशी थे, यह निर्विकल्प नहीं है। इस का कारण 'नाय' शब्द है। इस के रूपान्तर दो हो सकते हैं—ज्ञात और नाग। न्याय, नाक आदि भी हो सकते हैं पर उन का वंश से सम्बन्ध नहीं है। इस में कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन आचार्यों ने भगवान् का वंश ज्ञात माना है। आचार्य हेमचन्द्र से पहले ही जिनदासमहत्तर, हरिभद्र सूरि आदि ने नायपुत्त का अर्थ ज्ञातपुत्र किया है। किन्तु दिगम्बर आचार्यों ने भगवान् का वंश 'नाथ' भी माना है[1]।

धनंजय नाममाला में भगवान् का एक नाम 'नाथान्वय' है[2]।

इस से यह स्वतः सिद्ध है कि भगवान् का वंश ज्ञात था—यह तथ्य निर्विकल्प नहीं रहा है। कुछ विद्वान् भगवान् के वंश का नाम 'नाट' मानते हैं। मनुस्मृति में नाट नाम की एक जाति का उल्लेख है[3]। इस प्रकार भगवान् के वंश के लिए ज्ञात, नाथ और नाट—ये तीन विकल्प मिलते हैं। मूलतः वे इक्ष्वाकुवंशी और काश्यप गोत्री थे। नाग जाति भी इक्ष्वाकुवंश की एक उपशाखा थी। इस लिए उन का नागवंशी होना अधिक संगत है। नाय का नात रूप बनता ही है। प्राचीन या आर्ष प्राकृत में ऐसे प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। बौद्ध साहित्य में जो नातपुत्त का प्रयोग है, वह ज्ञातपुत्र का रूपान्तर नहीं है। पाली

१. 'विदेहविषये कुण्ड-संज्ञायां पुरि भूपतिः।
नाथो नाथकुलस्यैकः, सिद्धार्थाख्यस्त्रिसिद्धिभाक्॥'
—उत्तरपुराण, पृ० ४८२

२. 'सन्मतिर्महतिर्वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम्॥'
धनंजय नाममाला ११५

३. मनुस्मृति, १०।२२

में ज्ञात का नात रूप नहीं बनता किन्तु 'ज्ञ' का 'ज' होता है, इस लिए यदि ज्ञात होता तो उस का पाली रूप 'जात' होता। जैसे—

प्राकृत	पाली
सन्ना	सञ्ञा
पन्ना	पञ्ञा
परिन्ना	परिञ्ञा

ज्ञात शब्दके अर्थके बारेमें भी सभी आचार्य एकमत नहीं रहे हैं। हरिभद्र-सूरि ने ज्ञात का अर्थ 'उदार क्षत्रिय सिद्धार्थ' किया है[1]। आवश्यक चूर्णि और कल्पसूत्र की सन्देहविषौषधि वृत्ति में उस का अर्थ भगवान् ऋषभ के स्व-जनों के वंशज किया है[2]। इन में एक अर्थ व्यक्तिपरक है और दूसरा कुलपरक। आवश्यक चूर्णि में ऋषभ के सम्बन्धियों को 'णात' कहा गया है, किन्तु वसुदेव-हिण्डीमें उन के लिए 'नाग' शब्द का प्रयोग मिलता है—

"ततो पढमं राइणा विहत्ता चत्तारि गणा उग्गा भोगा राइण्णा नागा। जे उग्गा ते आयरक्खा, भोगा भोगे भुंजंति, राइण्णा जे सामिणो समवयसा, णागा जे कज्जनिवेयगा[3]।"

पं० बेचरदासजी ने ज्ञातृ शब्द का भी समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है—"जिन्होंने ज्ञातृ शब्द की कल्पना की है, वे भी अप्रामाणिक नहीं हैं। नाया-धम्मकहा नाम में नाया शब्द का सम्बन्ध 'ज्ञातृ' मानने वालों ने 'ज्ञातृ' के ज्ञाता रूप के साथ लगाया है और यह शब्द भी ज्ञातवंश का भी सूचक है। हमारे श्वेताम्बरी वृत्तिकार ने नाया को नाय माना और समास में दीर्घीकरण किया। मैं समझता हूँ कि दीर्घीकरण की अपेक्षा ज्ञाता मानना विशेष संगत है। क्योंकि नाया यह विशेष नाम है।"

'नायाधम्मकहा' में जो 'नाया' शब्द है, उसे वंश सूचक मानना सही नहीं है। हम कुछ अगली पंक्तियों में इस पर विचार करना चाहते हैं। यहाँ इतना

१. ज्ञातः उदारक्षत्रियः सिद्धार्थः।'—दशवैकालिक वृत्ति ६।२०

२. (क) 'णाता णाम जे उसभसामिस्स सयणिज्जगा ते णातवंसा।'—आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २४५

(ख) कल्पसूत्र सन्देहविषौषधि, वृत्ति, पत्र ३०

३. वसुदेवहिण्डी, पृ० १६२

ही प्रतिपाद्य है कि भगवान् का वंश विद्वानों की दृष्टि में—ज्ञात, नाथ और ज्ञातृ इन तीनों रूपों में सम्मत रहा है।

वृत्तिकार ने प्राकृत के जो संस्कृत रूप किये हैं, वे सर्वत्र सही ही हैं, ऐसा मानना नहीं है। इसी लिए हम चाहते हैं कि 'नाय' शब्द के संस्कृत रूप पर पुनर्विचार किया जाये।

हम पहले बता चुके हैं कि 'नाय' शब्द के मूल अर्थ की परम्परा विस्मृत होने पर ही उस का अर्थ ज्ञात किया गया है। 'नाथ' शब्द का आधार श्वेताम्बर आगमों में प्राप्त नहीं है। ज्ञातृ 'नाथ' का रूपान्तर नहीं हो सकता। 'नाय' के 'नाग' रूप की जो कल्पना है, वह अस्वाभाविक नहीं है। औपपातिक में 'नाया' 'कोरव्वा' पाठ है। उस प्रकरण में 'नाय' शब्द के दो संस्कृत रूप 'ज्ञात' और 'नाग' हो सकते हैं, तब हमें यह देखना होगा कि इनमें से कौन-सा वंश प्रसिद्ध है। नागवंश (नाग और शिशुनागवंश) जैन व जैनेतर सर्वत्र इतिहास में प्रसिद्ध है, यह कोई प्रमाण नहीं हो सकता। जो स्वयं आलोच्य है, उसे प्रमाण रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। हमारा कोई आग्रह नहीं है कि भगवान् का वंश 'नाग' ही था, किन्तु 'नाया', 'कोरव्वा' और कुछ आदर्शों में 'नागा', 'कोरव्वा' ऐसा पाठ मिलता है, तब सहज ही इस ओर ध्यान जाता है कि भगवान् के प्रसंग में प्रयुक्त 'नाय' शब्द का 'ज्ञात' रूपान्तर करने में अर्थ-परम्परा की विस्मृति ही हुई है।

बौद्ध पिटकों में जो 'निग्गण्ठो नातपुत्तो' शब्द आता है, उस पर हम पहले लेख में विचार कर चुके हैं।

प्राकृत में 'ग' के स्थान पर 'त' बहुलता से होता है। स्थानांग, रायपसेणइय आदि आगमों की प्राचीन प्रतियों में तकार बहुल प्रयोग भरे पड़े हैं। ओ, क, च, ग आदि दसों वर्णों को तकारादेश होता है। अतः 'नातपुत्त' 'नागपुत्त' की कल्पना में बाधक नहीं है।

नायाधम्मकहा में जो नाया शब्द है, उस का भगवान् महावीर के वंश से कोई सम्बन्ध नहीं है। समवायांग (सू० १४१) नन्दी (सू० ५०) के अनुसार

नायाधम्मकहा में ज्ञातों—उदाहरणभूत मेघकुमार आदि व्यक्तियों के नगर, उद्यान, चैत्य, वनखण्ड, राजा, माता-पिता, समवसरण, धर्माचार्य आदि का वर्णन है। मलयगिरि और अभयदेव दोनों आचार्यों ने लिखा है—"ज्ञाताधर्मकथासु ज्ञातानां उदाहरणभूतानां नगरादीनि व्याख्यायन्ते।" यहाँ ज्ञात का अर्थ उदाहरण है। उदाहरण के अर्थ में नाय शब्द का प्रयोग स्थानांग में मिलता है। दशवैकालिक निर्युक्ति (५२) में 'नाय' और उदाहरण को पर्यायवाची शब्द बताया गया है—

"नायमुदाहरणंति य, दिट्ठंतोवमनिदरिसणं तहा य।
एगट्ठं तं दुविहं, चउव्विहं चेव नायव्वं ॥"

नायाधम्मकहा के दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहले श्रुतस्कन्ध में १९ नाय—ज्ञात हैं।[1] पहले में अध्ययन का नाम उक्खित्तनाय—उत्क्षिप्त ज्ञात है। यह ज्ञात शब्द प्रत्येक अध्ययन के साथ जुड़ता है।[2] दूसरे श्रुतस्कन्ध में धर्म-कथाओं के दस वर्ग हैं। 'नायाधम्मकहा'—यह दोनों श्रुतस्कन्धों का संयुक्त नाम है।[3] 'नायाधम्मकहा' का नाय शब्द भगवान् के वंश का सूचक नहीं है। 'नायपुत्त' में जो 'नाय' शब्द है, वह स्वयं समालोच्य है। भगवान् ज्ञातवंशी थे, इस की पुष्टि का पूर्वाचार्य कृत संस्कृत रूपान्तर कोई प्रमाण नहीं है। ज्ञात को अप्रमाणित सिद्धि किये बिना यदि 'नाग' वंश सिद्ध नहीं होता तो नागवंश को अप्रमाणित किये बिना ज्ञातवंश कैसे सिद्ध होगा?

जिस प्रकार 'पाओवगमण' का संस्कृत रूप 'पादोपगमन' और 'भोय' का 'भोग' किया गया है, उसी प्रकार 'नाय' का 'ज्ञात' किया गया है। किन्तु वस्तुतः 'पाओवगमन' का 'प्रयोपगमन' और 'भोग' का 'भोज' और 'नाय' का नाग होना चाहिए। मूलाराधना की विजयोदया वृत्ति में पाओवगमण का प्रायोपगमन रूप मिलता है।[4] महाभारत में भी आमरण अनशन के अर्थ में 'प्रायोपविष्ट' शब्द

१. ज्ञाताधर्म कथा : 'णायाणं कति अज्झयणा ?—णायाणं एगूणवीसं अज्झयणा।'
२. 'एवमौचित्येन सर्वत्र ज्ञात शब्दो योज्यः।'
३. 'छट्ठस्स अंगस्स दो सुयक्खंधा पन्नत्ता, तंजहा—णायाणि य धम्मकहाओ य।'
४. 'पाओवगमण मरणस्स। प्रायोपगमन मरणम्।'—मूलाराधना, आश्वास ८, गाथा २०६३ : विजयोदयावृत्ति।

मिलता है।[1] 'भोज' प्रसिद्ध कुल रहा है, 'भोग' नहीं[2]। सात[3] या छह[4] कुलों के नाम मिलते हैं—उग्गे, भोगे, रायण्णे, खत्तिए इक्खागे, णाते, कोरव्वे। इन में णात शब्द है, उस का अर्थ वृत्तिकारों ने प्रायः ज्ञात किया है। (अभयदेवसूरि ने नाग भी किया है) किन्तु वह नाग ही होना चाहिए।

'नाय' के 'नाग' होने की पुष्टि में आधारभूत तथ्य ये हैं—१. औपपातिक सूत्र की वृत्ति में 'नाय' का संस्कृत रूप 'नाग' मिलता है। २. सूत्रकृतांग के आदर्श में 'नाय' के स्थान पर 'नाग' पाठ मिलता है। ३. वसुदेवहिण्डी में आवश्यकचूर्णिगत णात के स्थान में 'नाग' मिलता है। ४. नागवंश इतिहास प्रसिद्ध वंश रहा है, जब कि ज्ञातवंश इतिहास प्रसिद्ध नहीं है। ५. प्राचीन साहित्य में भी ज्ञात शब्द निर्विकल्प नहीं है। दिगम्बर साहित्य में भगवान को नाथवंशी कहा गया है।

■

---

१. 'प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम्।
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत ॥२४॥
न भोक्ष्ये न च पानीयमुपभोक्ष्ये कथंचन।
शोषयिष्ये प्रियान् प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः ॥२५॥' महाभारत, शान्तिपर्व, राज०, अ० २७।

२. नेमिनाथ चरितम्:
'इतश्चाम्भोजतुल्याक्षी, भोजराजाङ्गभूरभूत्।
उग्रसेनो महोजानिरुग्रसेनासमन्वितः॥
स्निग्धां विदग्धां नृप भोजपुत्रीं साम्राज्यलक्ष्मीं स्वजनं च हित्वा।
पितॄननुज्ञाप्य च माननीयान् बभूव दीक्षाभिमुखोऽथ नेमिः।
अथ भोजनरेन्द्रपुत्रिका प्रविमुक्ता प्रभुणा तपस्विनी।
व्यलपद्गलदश्रुलोचना शिथिलांगा लुठिता महीतले॥'

३. अनुयोगद्वार सूत्र ४६७।

४. छव्विधा कुलारिता मणुस्सा पं० तं०—'उग्गा, भोगा, राइन्ना, इक्खागा, णाता, कोरव्वा।'—स्थानांग सूत्र ४६७।

अनार्य देशों में तीर्थंकरों और मुनियों का विहार

कुछ वर्ष पूर्व भी विश्वम्भरनाथ पाण्डेय का 'अहिंसक परम्परा' शीर्षक लेख पढ़ा था। जिज्ञासा उभर आयी। उस में था—"ईसवी सन् की पहली शताब्दी में और उस के बाद के हज़ारों वर्षों तक जैन धर्म मध्य-पूर्व के देशों में किसी-न-किसी रूप में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है। प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक वान् क्रेमर के अनुसार मध्य पूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय श्रमण शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास लेखक जी० एफ० मूर लिखते हैं कि हज़रत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, श्याम और फ़िलिस्तीन में जैन मुनि और बौद्ध भिक्षु सैकड़ों की संख्या में चारों ओर फैले हुए थे। 'सियादत्त नाम ए नासिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन-धर्म का काफ़ी प्रभाव पड़ा था। कलन्दर चार नियमों का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे[1]।"

सन् १९५९ में आचार्यश्री तुलसी कलकत्ता से लौटते समय इलाहाबाद में आये। श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय उस समय वहाँ के महापौर थे। वे आचार्यश्री के स्वागत में बोल रहे थे। उन्होंने उस समय भी उक्त लेख के कुछ अंशों की विस्तार से चर्चा की थी। मन में जिज्ञासा फिर उभरी। जैन-साहित्य में इन विहार-क्षेत्रों का कोई उल्लेख है या नहीं? यह जानने की प्रबल उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। किन्तु यात्रा व अन्य कार्य-बहुलता के कारण उस की पूर्ति नहीं हुई। समय

१. हुकुमचन्द अभिनन्दन ग्रन्थ

पा कर वह भावना विलीन हो गयी। बीदासर चातुर्मास में हम लोग आचार्यश्री के समक्ष विशेषावश्यक भाष्य और आवश्यक निर्युक्ति का पारायण कर रहे थे। उस में तीर्थंकरों के विहार का उल्लेख आया तो सुप्त भावना पुनः उद्बुद्ध हो गयी। उन में लिखा है—"बीस तीर्थंकरों ने आर्य क्षेत्र में विहार किया। भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य क्षेत्र में भी विहार किया था[१]।" ये चार तीर्थंकर जिन अनार्य क्षेत्रों में—देशों में गये, उन का पूरा विवरण प्राप्त नहीं है। फिर भी यत्र क्वचित् उन का नामोल्लेख मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति व विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार भगवान् ऋषभ ने बहली, अडंबइल्ल, यवन, सुवर्णभूमि, पण्हव आदि म्लेच्छ देशों में विहार किया था।[२] भगवान् ऋषभ दीक्षित होने के प्रथम वर्ष में ही आर्य और अनार्य देशों में गये थे।[३] आचार्य हेमचन्द्र ने अडंबइल्ल आदि म्लेच्छ देशों में भगवान् ऋषभ के विहार का उल्लेख किया है, वह आवश्यक निर्युक्ति का अनुवाद-मात्र है।[४]

द्वारका दहन हुआ तब भगवान् अरिष्टनेमि पल्हव नामक अनार्य देश में थे।[५] यह पल्हव भारत की सीमा में था या उस के बाहर—यह अन्वेषणीय है। प्राचीन पार्थीया (वर्तमान ईरान) के एक भाग को पल्हव या पण्हव माना जाता

---

१. 'मगहारायगिहाइसु मुणओ खेत्तारिएसु विहारिंसु।
उसभोनेमी पासो, वीरो य अणारिएसुं पि॥'
—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा २५६ तथा विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १६६६।

२. 'बहली अडंबइल्ला, जोगण विसओ सुवण्णभूमी य।
आहिंडिया भगवया, उसभेण तवं चरंतेण॥
बहलीय जोणगा, पण्हगा य जे भगवया समणुसिट्ठा।
अन्नेय मेच्छजाई, ते तइया भद्दगा जाया॥'
१—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ३३६, ३३७। विशेषावश्यक भाष्य, १७१६, १७१७।

३. 'आर्यानार्येषु मौनेन विहरन् भगवानपि।
संवत्सरं निराहारश्चिन्तयामासिवानिदम्॥'
त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र—१।३।२३८।

४. 'यवनाडम्बइल्लादि म्लेच्छदेशेषु मौनभाक्।
अनार्यान् भद्रकीकुर्वन् दर्शनेनापि देहिनः॥'
त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित्र—१।३।३८७।

५. उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति, पत्र ३६।

है। काठियावाड़ में जूनागढ़ रियासत में एक ईरानी उपनिवेश की सम्भावना होती है। भारत में आर्य और अनार्य दोनों प्रकार के देश थे। कलिंग आदि देशों में यवन शासकों का भी उल्लेख मिलता है।[1] कुमार पार्श्व ने वहाँ एक यवन शासक को पराजित किया था।

भगवान् अरिष्टनेमि ने द्वारवती दहन की बात बतलायी, उस समय वे वहीं थे। उस के पश्चात् वे वहाँ से अन्य जनपदों में विहार कर गये। द्वारवती दहन से पूर्व एक बार फिर वे रेवत पर्वत पर आये थे।[2] जब द्वारवती का दहन हुआ तब भगवान् अरिष्टनेमि पल्हव देश में थे। इस मध्यावधि में १२ वर्ष का काल बीता है। उस में वे ईरान भी जा सकते हैं और सौराष्ट्र में भी हो सकते हैं। किन्तु द्वारवती का दहन होने के पश्चात् कृष्ण और बलभद्र पाण्डव मथुरा (वर्तमान मदुरा) जा रहे थे। वे पूर्व दिशा में चले, सौराष्ट्र को पार किया और हस्तिकल्पपुर पहुँचे। वहाँ से दक्षिण की ओर प्रस्थान किया और कौसुम्बारण्य में गये[3]। इस यात्रा में भगवान् अरिष्टनेमि के पास जाने का उल्लेख नहीं है। द्वारवती-दहन के पश्चात् वे भगवान् के पास नहीं गये। यह आश्चर्य की बात है। यहीं पर कल्पना होती है कि उस समय भगवान् सौराष्ट्र में नहीं थे। यह भी हो सकता है, भगवान् उन के यात्रा-पथ से दूर थे। कुछ भी हो अन्तिम निर्णय के लिए अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।[4]

भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, कौशल, काशी, सुम्ह, अवन्ती, पुण्ड्र, मालव, अंग, बंग, कलिंग, पंचाल, मगध, विदर्भ, भद्र, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्णाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, काश्मीर, कच्छ, शाक, पल्हव, वत्स, आभीर आदि देशों में विहार किया था।[5] इन में अनार्य देशों का नामोल्लेख नहीं है। किन्तु दक्षिण

---

१. 'तन्त्रासीच्च कलिंगादौ देशेन्द्रो यवनाधिपः।'—पार्श्वनाथ चरित्र ६।१७६ भावदेव सूरी

२. 'एत्थंतरे य भयवं पुणरवि अरिट्ठनेमि सामी विहरंतो आगओ, रेवयम्मि समोसढो'—

३. उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति, पत्र ३८।

४. 'पत्थिया ते पाएहिं चेव पुव्वदिसि मंगीकाऊण......सुरट्ठादेसं च समुत्तरिऊण......पत्ता हत्थिकप्पपुरवरस्सबाहिं...दक्खिणाभिमुहं गंतुं पयत्ता। कोसुंबारण नाम वणं।'—उत्तराध्ययन सुखबोधा वृत्ति, पत्र ४०।

५. सकलकीर्ति, पार्श्वनाथ चरित, २३।१७।१६, १५।७६-८५।

के कर्णाटक, कोंकण, पल्हव, द्राविड़ आदि उस समय अनार्य माने जाते थे। शाक भी अनार्य प्रदेश है। इस की पहचान शाक्य देश या शाक द्वीप से हो सकती है। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है। वहाँ भगवान् पार्श्व के अनुयायी थे। भगवान् बुद्ध का चाचा भगवान् पार्श्व का श्रावक था।[1] शाक्य प्रदेश में भगवान् का विहार हुआ हो, यह बहुत सम्भव है। भारत और शाक्य का बहुत प्राचीन काल से सम्बन्ध रहा है। सम्भव है वहाँ भगवान् पार्श्व ने विहार किया हो।

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर व्रज भूमि, सुम्हभूमि, दृढ़भूमि आदि अनार्य प्रदेशों में गये थे। वे बंगाल की पूर्वीय सीमा तक (शायद बर्मी सीमा तक) गये थे।[2]

उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त एवं अफ़गानिस्तान में विपुल संख्या में जैन श्रमण विहार करते थे।[3] कालकाचार्य सुवर्णभूमि (सुमात्रा) गये थे। उन के प्रशिष्य वहाँ पहले ही विद्यमान थे।[4]

जैन श्रावक समुद्र पार करते थे। उन की समुद्र-यात्रा और विदेश-व्यापार के अनेक प्रमाण मिलते हैं। लंका में जैन श्रावक थे। इस का उल्लेख बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। महावंश के अनुसार ई० स० ४३० पूर्व जब अनुरुद्धपुर बसा तब जैन श्रावक वहाँ विद्यमान थे। वहाँ 'निग्गंथ' का भी उल्लेख मिलता है।[5]

आर्य-अनार्य देशों की चर्चा के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि अनार्य देश भारत के बाहर ही नहीं रहे हैं, यहाँ भी विविध दृष्टिकोणों से विविध देशों को अनार्य कहा गया है। धार्मिक दृष्टि से भारत के छह खण्डों में से केवल मध्य क्षेत्र को आर्य देश कहा गया है। बृहत्तर भारत के छह खण्ड हैं, उन में पाँच

---

१. अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा, भाग दो, पृष्ठ १५२।

२. सुवर्णभूमि में कालकाचार्य, पृष्ठ २२।

३. जर्नल ऑव द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, जनवरी सन् १८८५।

४. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १२०; बृहद्‌ वृत्ति, पत्र १२७; सुखबोधा, पत्र ५०।

५. महावंश, पृष्ठ ४६।

खण्ड अनार्य हैं, छठा खण्ड आर्य है। उस में भी बहुत अनार्य देश हैं। वहाँ धर्म सामग्री सुलभ नहीं है, इस लिए वे अनार्य हैं।[1] भारत में आर्य-अनार्य—दोनों प्रकार के देश मान्य रहे हैं। फिर भी वर्तमान भारत की सीमा से बाहर तीर्थंकर नहीं गये, ऐसा नहीं माना जा सकता।

■

१. 'प्रतिक्षेत्रञ्च तत्राप्यनार्याणां खण्डपञ्चकम् ॥ २६५ ॥
षष्ठं खण्डं भवत्यार्यं, प्रायो म्लेच्छाद्यधिष्ठितम् ।
तत्राप्यनार्यका देशा, धर्मसामग्र्यभावतः ॥ २६६ ॥'
—श्री पार्श्वनाथ चरित, भावदेव सूरी, सर्ग ६ ।

आगमों में आर्य-अनार्य की चर्चा

दृश्य-जगत् में मनुष्य सर्वाधिक शक्ति और बुद्धि-सम्पन्न प्राणी है। वह संख्या में अनेक है और जाति की दृष्टि से एक। मनुष्य जाति एक है, यह जैन साहित्य का प्रधान घोष है।[1] मनुष्य और पशु में जैसे जातिगत भेद है, वैसे मनुष्य मनुष्य में जातिगत भेद नहीं है। किन्तु भौगोलिक आदि भेदों से मनुष्य विभक्त भी है। प्रज्ञापना में बताया है कि मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—सम्मूर्च्छित और गर्भज।[2] सम्मूर्च्छित मनुष्य औपचारिक मनुष्य हैं। वे गर्भज मनुष्य के मल, मूत्र आदि अशुचि स्थानों में ही उत्पन्न होते हैं, इस लिए उन्हें मनुष्य कहा जाता है[3]। गर्भज मनुष्य के तीन प्रकार हैं—१. कर्म भूमिज, २. अकर्म भूमिज, ३. अन्तर द्वीपज।

पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह—ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं। यहाँ के मनुष्य कर्म कर के अपनी आजीविका करते हैं इसी लिए इन भूमियों में उत्पन्न मनुष्य कर्मभूमिज कहलाता है। कर्मभूमिज मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—आर्य और म्लेच्छ।[4] आर्य दो प्रकार के होते हैं—ऋद्धिप्राप्त और अनृद्धिप्राप्त। ऋद्धिप्राप्त आर्य छह प्रकार के होते हैं—१. अरहन्त, २. चक्रवर्ती, ३. वासुदेव, ४. बलदेव, ५. चारण, ६. विद्याधर।

तत्त्वार्थ वार्तिक में ऋद्धिप्राप्त आर्य के आठ प्रकार बतलाये गये हैं[5]—१. बुद्धि, २. क्रिया, ३. विक्रिया, ४. तप, ५. बल, ६. औषध ७. रस, ८. क्षेत्र।

---

१. आचारांग निर्युक्ति १९।
२. प्रज्ञापना १।५८।
३. वही, १।५९।
४. वही, १।६३।
५. तत्त्वार्थवार्तिक ३।३६, पृष्ठ २०१।

अनृद्धि प्राप्त आर्य नौ प्रकार के होते हैं—१. क्षेत्रार्य, २. जात्यार्य, ३. कुलार्य, ४. कर्मार्य, ५. शिल्पार्य, ६. भाषार्य, ७. ज्ञानार्य, ८. दर्शनार्य, ९. चरित्रार्य।

तत्त्वार्थ वार्तिक में अनृद्धिप्राप्त आर्य पाँच प्रकार के बतलाये गये हैं[1]—१. क्षेत्रार्य, २. जात्यार्य, ३. कर्मार्य, ४. चरित्रार्य, ५. दर्शनार्य।

तत्त्वार्थ भाष्य में उन के छह प्रकारों का उल्लेख है[2]—१. क्षेत्रार्य, २. जात्यार्य, ३. कुलार्य, ४. शिल्पार्य, ५. कर्मार्य, ६. भाषार्य।

साढ़े पच्चीस देशोंमें रहनेवाले क्षेत्रार्य कहलाते हैं। उन देशों और उन की राजधानियों के नाम इस प्रकार हैं—

देश	राजधानी
१. मगध	राजगृह
२. अंग	चम्पा
३. बंग	ताम्रलिप्ती-तामलुक
४. कलिंग	कांचनपुर
५. काशी	वाराणसी
६. कोशल	साकेत
७. कुरु	गजपुर
८. कुशार्त या कुशावर्त	शौरिपुर
९. पंचाल	काम्पिल्य
१०. जंगल	अहिच्छत्रा
११. सौराष्ट्र	द्वारवती
१२. विदेह	मिथिला-जनकपुर
१३. वत्स	कौशाम्बी-कोसम
१४. शाण्डिल्य	नन्दिपुर
१५. मलय (पूर्वीघाट)	भद्दिलपुर
१६. मत्स्य	वैराट

१. तत्त्वार्थ वार्तिक ३।३६, पृष्ठ २००

२. तत्त्वार्थ भाष्य ३।१५

देश	राजधानी
१७. अत्स्य (अच्छ)	वरुणा
१८. दशार्ण	मृत्तिकावती
१९. चेदी	शुक्तिमती
२०. सिन्धु	वीतमय
२१. शूरसेन	मथुरा
२२. भंगी	पावा
२३. वर्त (वर्तक)	मासपुरी
२४. कुणाल	श्रावस्ती
२५. लाढ	कोटिवर्ष—बानगढ़
२६. केकय	श्वेत विका—बकोदिला

इन देशों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, राम (बलदेव) और कृष्ण (वासुदेव) की उत्पत्ति हुई, इस लिए इन्हें आर्य जनपद कहा गया है।[1] जिन देशों में तीर्थंकर आदि उत्पन्न हुए, उन्हें आर्य कहा गया है।[2]

आवश्यक चूर्णि में आर्य और अनार्य जनपदों की व्यवस्था इस प्रकार है—जिन प्रदेशों में यौगलिक रहते थे, जहाँ 'हाकार' आदि नीतियों का प्रवर्तन हुआ था, वे प्रदेश आर्य और शेष अनार्य हैं।[3] इस के अनुसार आर्य जनपदों की सीमा बहुत बढ़ जाती है। तत्त्वार्थ भाष्य के अनुसार चक्रवर्ती की विजयों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य भी आर्य होते हैं।[4] तत्त्वार्थ वार्तिक में काशी-कोशल आदि जनपदों में उत्पन्न मनुष्यों को क्षेत्रार्य कहा गया है।[5] इस का तात्पर्य यह है कि बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान और पंजाब तथा पश्चिमी पंजाब और सिन्ध—ये प्रान्त (कोई पूर्ण कोई अपूर्ण) आर्य क्षेत्र की

---

१. 'इत्थुप्पत्ति जिणाणं, चक्कीणं रामकण्हाणं।'—प्रज्ञापना १

२. 'यत्र तीर्थंकरादीनामुत्पत्तिस्तदार्यं, शेषमनार्यम्'।—प्रवचन सारोद्धार, पृष्ठ ४४६

३. आवश्यक चूर्णि—जेसु केसुवि पएसेसु मिहुणगादि पइट्ठिएसु हक्काराइया नीई परूढा ते आरिया, सेसा अणारिया।

४. 'भरतेष्वर्धषड्विंशतिजनपदेषु जाताः, शेषेषु च चक्रवर्ती विजयेषु।'—तत्त्वार्थ भाष्य ३।१५।

५. 'क्षेत्रार्याः काशीकोशलादिषु जाताः।'—तत्त्वार्थ वार्तिक ३।३६, पृष्ठ २००।

सीमा में थे। शेष प्रान्त उस सीमा से बाह्य थे। दक्षिणापथ अनार्य की सीमा में था। आर्यों का वर्चस्व अधिकांशतः उत्तरभारत में ही था। सम्भव है, इस सीमा-निर्धारण की पृष्ठभूमि में वह प्राचीन परम्परा प्रमुख रही हो। साढ़े पच्चीस देशों में अवन्ती का उल्लेख नहीं है, यह आश्चर्य की बात है। भगवान् महावीर के समय में वह प्रसिद्ध राज्य था। चण्डप्रद्योत प्रसिद्ध राजा था। भगवान् महावीर सिन्धु-सौवीर अवन्ती से ही गये थे। यह अवन्ति से ८० योजन दूर था।[1] दक्षिण देशों से जैन आचार्य सुपरिचित थे। वहाँ जैन धर्म का प्रचार भी था, फिर भी उन देशों का आर्य क्षेत्रों में उल्लेख नहीं है, यह भी आश्चर्य है। किन्तु यह आश्चर्य हमें इस लिए होता है कि हम ने आर्य का अर्थ श्रेष्ठ और अनार्य का अर्थ हीन मान रखा है। किन्तु ठेठ आर्य-अनार्य के इतिहास से हमारा परिचय होता तो हम अनार्य को हीन नहीं मानते। आर्यों के आगमन के हजारों वर्षों बाद आर्य शब्द लाक्षणिक बन गया। उस का अर्थ-विस्तार हो गया। वह श्रेष्ठता का सूचक बन गया। कल्पना दौड़ती है, जिन देशों को आर्य नहीं माना गया, वहाँ सम्भव है आर्य-पूर्व जातियों का वर्चस्व हो।

जात्यार्य मनुष्य छह प्रकार के हैं—१. अम्बष्ठ, २. कलिन्द, ३. विदेह, ४. हरित, ५. वेदक, ६. चुंचुण।

कुलार्य मनुष्य छह प्रकार के हैं—१. उग्र, २. भोग (भोज), ३. राजन्य, ४. इक्ष्वाक (कु), ५. ज्ञात (ज्ञाति), ६. कौरव।

तत्त्वार्थ वार्तिक में जात्यार्य और कुलार्य भिन्न नहीं हैं। इक्ष्वाकु, ज्ञाति और भोज आदि कुलों में उत्पन्न मनुष्य जात्यार्य होते हैं।[2] तत्त्वार्थ भाष्य में इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, ज्ञात, कुरु, बुम्बु, नाल, उग्र, भोग, राजन्य आदि को जात्यार्य और कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव तथा तीसरे, पाँचवें या सातवें कुलकर से ले कर शेष कुलकरों से उत्पन्न विशुद्ध वंश वालों को कुलार्य कहा गया है।[3]

---

१. गच्छाचार, पृ० १२२।

२. इक्ष्वाकुज्ञातिभोजादिषु कुलेषु जाता जात्यार्याः।—तत्त्वार्थ वार्तिक ३।३६, पृ० २००।

३. 'जात्यार्याः इक्ष्वाकवो विदेहा हर्यम्बष्ठा ज्ञाताः कुरवो बुम्बुनाला उग्रभोगा राजन्या इत्येवमादयः। कुलार्याः—कुलकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवाः। ये चान्ये आतृतीयादापंचमादासप्तमाद्वा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयप्रकृतयः।—तत्त्वार्थ भाष्य ३।१५।

कर्मार्य मनुष्य अनेक प्रकार के हैं—दौष्यिक-वस्त्र के व्यापारी, सौत्रिक—सूते के व्यापारी, कार्पासिक—कपास या रुई के व्यापारी, तथा नाई, कुम्हार आदि।

शिल्पार्य मनुष्य अनेक प्रकार के हैं—तुण्णाग (रफू करने वाले), तन्तुवाय (जुलाहे), पुस्तकार, लेप्यकार, चित्रकार आदि।

तत्त्वार्थ वार्तिक में कर्मार्य और शिल्पार्य को एक ही माना गया है। कर्मार्य तीन प्रकार के होते हैं—१. सावद्य कर्मार्य, २. अल्प सावद्य कर्मार्य और ३. असावद्य कर्मार्य। असि, मषी, कृषि, विद्या, शिल्प और वणिक्-कर्म करने वाले सावद्य कर्मार्य हैं। श्रावक और श्राविकाएँ अल्प सावद्य कर्मार्य हैं। संयमी मुनि असावद्य कर्मार्य हैं[1]। तत्त्वार्थ भाष्य में यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, कृषि, लिपि, वाणिज्य और योनि पोषण से आजीविका करने वाले बुनकरों, कुम्हारों, नाइयों, दरजियों और विभिन्न कोटि के कारीगरों को शिल्पार्य कहा जाता है।[2]

अर्धमागधी भाषा बोलने वाले तथा ब्राह्मी लिपि में लिखने वाले भाषार्य कहलाते हैं। तत्त्वार्थ वार्तिक में भाषार्य का उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थ भाष्य के अनुसार शिष्ट जनों की भाषा के नियत वर्णों, लोकरूढ़ स्पष्ट शब्दों तथा पाँच प्रकार के आर्यों के संव्यवहार का भली भाँति उच्चारण करने वाले भाषार्य होते हैं[3]।

सम्यग्-ज्ञानी, सम्यग्-दृष्टी और सम्यक्-चारित्री को क्रमशः ज्ञानार्य दर्शनार्य और चरित्रार्य कहा जाता है।

आर्य के ये नौ प्रकार बहुत ही सापेक्ष हैं। ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य—इन तीन पदों का सम्बन्ध धार्मिक-जगत् से है। जिन्हें यह रत्नत्रयी प्राप्त नहीं है, वे सब अनार्य हैं, भले फिर वे किसी भी क्षेत्र, जाति या कुल में जन्में हों, कौन-सा भी कर्म करते हों और किसी भी भाषा के भाषी हों। आर्यों के शेष विभाग भौगोलिक, आजीविका, जाति और भाषा के आधार पर किये हुए हैं। साढ़े पच्चीस देशों को आर्य कहने में जैन आचार्यों का जो दृष्टिकोण रहा है, वह

---

१. तत्त्वार्थ वार्तिक ३।३६, पृ० २०१

२. तत्त्वार्थ भाष्य, ३।१५

३. वही, ३।१५

कहा जा चुका है। इन जनपदों में श्रमण-परम्परा या जैन धर्म की यथेष्ट व्याप्ति रही है, इस लिए भी सम्भव है इन्हें आर्य जनपद कहा गया है। यह इस से भी जाना जाता है कि अंग-बंग आदि जनपदों के प्रति वैदिकों का दृष्टिकोण गर्हा का रहा है। एक स्मृति में कहा है[१]—

"अंग-बंग-कलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
तीर्थयात्रां विना गच्छन् पुनः संस्कारमर्हति ॥"

अर्थात्—अंग (मुंगेर-भागलपुर), बंग (बंगाल), कलिंग (उड़ीसा), सौराष्ट्र (काठियावाड़) और मगध (पटना, गया आदि) में तीर्थ-यात्रा के बिना जाने से फिर से उपनयनादि संस्कार कर के शुद्ध होना पड़ता है।

अम्बष्ठ आदि उस समय की इभ्य जातियाँ थीं : इस लिए इन्हें आर्य कहा गया है। स्थानांग में इभ्य जातियों में इन्हीं की गिनती की गयी है।[२] उग्र, भोग आदि कुल आदिराज ऋषभ के समय में स्थापित हुए थे, इसलिए प्रधानतया उन्हीं को आर्य कहा गया है। आदिराज ऋषभ के समय जो आरक्षक बने, वे उग्र कहलाये, जो गुरु स्थानीय थे, वे भोग कहलाये, जो वयस्य या समऋद्धि वाले थे, उन्हें राजन्य कहा गया, शेष प्रजा को क्षत्रिय कहा गया।[३] क्षत्रिय लोग अधिकांशतः इक्षुभोजी थे, इस लिए वे इक्ष्वाकु नाम से प्रख्यात हुए।[४] ज्ञात, कौरव आदि भगवान् महावीर के समय के प्रसिद्ध वंश थे। आदिराज ऋषभ ने अग्नि की उत्पत्ति होने पर कृषि, वाणिज्य आदि कर्मों का प्रवर्तन किया।[५] कुम्हार, लोहार, चित्रकार, वस्त्रकार और नापित—इन पाँचों को शिल्पों का प्रशिक्षण दिया। तथा भरत को काष्ठ-कर्म, पुस्तक-कर्म आदि सिखलाये।[६] इन के

१. वैदिक साहित्य, पृष्ठ ३०२
२. स्थानांग
३. 'उग्गा भोगा रायण्णा, खत्तिया संगहो भवे चउहा।
आरक्खगुरुवयंसा, सेसा जे खत्तिया ते उ ॥'
आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १९८
४. 'आसीय इक्खुभोई, इक्खागा तेण खत्तिया होंति'—वही, गाथा १९९
५. 'कम्मं किसिवाणिज्जाइं।'—वही, गाथा २११
६. (क) 'पंचेवय सिप्पाइं, हाड लोहे चित्तणंत कासवए।'
(ख) 'आवश्यक निर्युक्ति २१३ : भरहस्स रूवकम्मं।' —वही, गाथा २११

आधार पर कर्मार्य और शिल्पार्य की व्यवस्था समझी जा सकती है। भगवान् महावीर अर्धमागधी भाषा में बोलते थे।[१] जैन आगमों के अनुसार देववाणी अर्धमागधी है।[२] ऋषभ ने कुमारी ब्राह्मी को लिपि-विधान सिखाया था, इस लिए उस लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि हुआ[३]। इस आधार पर भाषार्य की मान्यता के पीछे जो दृष्टिकोण रहा है, वह स्वयं स्पष्ट हो जाता है। प्रज्ञापना और जीवाभिगम में क्षेत्र आदि से आर्य और अनार्य का भेद बतलाया गया है। जान पड़ता है कि यह विभाजन आर्य और अनार्य दोनों जातियों के घुल-मिल जाने के बाद का है। इसमें वर्ण या शरीर-संस्थान के आधार पर उन का विभाग नहीं किया गया। सूत्रकृतांग में उस आधार पर भी उन का विभाजन मिलता है। वहाँ कहा गया है—"पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण इन चारों दिशाओं में मनुष्य होते हैं। कई आर्य होते हैं तो कई अनार्य होते हैं। कई उच्चगोत्र वाले होते हैं तो कई नीच गोत्र वाले होते हैं। कई लम्बे क़द के होते हैं तो कई ठिगने होते हैं। कई श्रेष्ठ वर्ण वाले होते हैं तो कई अपकृष्ट वर्ण (काले) होते हैं। कई सुरूप होते हैं तो कई कुरूप होते हैं[४]।" ऋग्वेद में आर्य और आर्येतर-ये दो विभाग मिलते हैं। अनार्य जातियों में अनेक सम्पन्न जातियाँ थीं। उन की अपनी भाषा थी, जो आर्यों को विचित्र सी लगती थी[५]। उन की अपनी सभ्यता थी, अपनी संस्कृति थी, अपनी सम्पदा और धार्मिक मान्यता थी[६]। जब वे आर्यों से मिले तब उन में बहुत भेद था। क्रमशः वे परस्पर घुल-मिल गये। आर्य विजेता बने, इस लिए वे अपने को उच्च गोत्र मानते थे। आर्येतर जातियाँ पराजित हुईं, इस लिए उन्हें वे नीच गोत्र मानने लगे। यह जातीय कुलीनता और अकुलीनता की भावना लगभग सभी देशों में रही है और इसी आधार पर ये श्रेणियाँ बनी हैं। आर्य किसी शीत-प्रधान देश के वासी थे। इसी कारण उन का क़द लम्बा था और

---

१. 'अद्धमागहाए भासाए भासइ अरिहा धम्मं।'—औपपातिक सूत्र ५६

२. 'देवाणं अद्धमागहाए भाषाए भासंति।'—भगवती ५।४।१६१

३. 'लेहं लिविविहाणं, जिणेण बंभीए दाहिणकरेणं।'—आवश्यक निर्युक्ति गाथा २१२

४. सूत्रकृतांग, २।१

५. ऋग्वेद, ७।६।३

६. वही, १।१७६।३-४; ८।७०।११

वर्ण गौर। भारत उष्ण प्रधान देश था, उस के निवासी क़द के छोटे थे और वर्ण में काले। महाभारत में भी भिन्न-भिन्न जाति वालों के वर्ण भिन्न-भिन्न बतलाये हैं—"ब्राह्मणों का वर्ण श्वेत होता है, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला और शूद्रों का काला होता है[१]।" आर्यों और अनार्यों में गठन का भी भेद था। इसी लिए सूत्रकृतांग में सुवर्ण-दुर्वर्ण और सुरूप-कुरूप—ये दो प्रयोग किये गये हैं। आर्यों की खोपड़ी लम्बी और अनार्यों की गोल होती थी। उन की नाक, आँख की रचना में भी अन्तर था। इस प्रकार आर्य व आर्य पूर्व भारतीय जातियों में अनेक अन्तर थे। उन के आधार पर वे विभक्त भी थे पर समय की मर्यादा में वे बहुत सारे अन्तर्विलीन हो गये। आज भौगोलिक, भाषा, रंग, शरीर-संस्थान आदि के आधार पर आर्य और अनार्य जैसा भेद हिन्दुस्तान में नहीं है। फिर भी भाषा, कुलीनता और प्रादेशिकता के जो मज्जागत संस्कार थे, वे सर्वथा विलुप्त नहीं हुए हैं। आर्य पूर्व जातियों में क्षत्रिय प्रधान थे और आर्य जाति में ब्राह्मणों की प्रधानता थी। जैन साहित्य के अनुसार मनुष्य जाति एक थी। राज्य की उत्पत्ति हुई, तब वह दो भागों में बँट गयी। जो लोग आदिराज ऋषभ के आश्रित रहे, वे क्षत्रिय और शेष सब शूद्र कहलाये, फिर जब अग्नि की उत्पत्ति हुई, तब वैश्य जाति का उद्‌भव हुआ और सम्राट् भरत ने जो स्वाध्याय मण्डल स्थापित किया, उस के सदस्य ब्राह्मण कहलाये[२]। महाभारत में कहा है—"वर्णों की कोई विशेषता नहीं है। ब्रह्मा ने समूचे जगत् को पहले ब्राह्मण-मय ही बनाया था। बाद में कर्मानुसार वे विभिन्न वर्ण वाले हो गये[3]।" पहले जो जातियाँ या श्रेणियाँ थीं, वे दो वर्ण की जातियों के संगम से वर्णों व वर्णान्तरों में विभक्त हो गयीं। जैन साहित्य के अनुसार सात वर्ण और नौ वर्णान्तर

---

१. 'ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा॥'
—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० १८८, श्लोक ५।

२. 'एक्का मणुस्सजाई, रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे।
तिण्णेव सिप्पवणिए, सावगधम्मम्मि चत्तारि॥'
—आचारांग निर्युक्ति, गाथा १९।

३. 'न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥'—महाभारत, शान्तिपर्व १८८।१०

होते हैं—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र, ये चार मूल वर्ण होते हैं। तीन वर्ण-शंकर होते हैं—१. ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न प्रधान क्षत्रिय (या शंकर क्षत्रिय)। २. क्षत्रिय और वैश्य स्त्री से उत्पन्न प्रधान वैश्य (या संकर वैश्य)। ३. वैश्य और शूद्र स्त्री से उत्पन्न प्रधान शूद्र (या संकर शूद्र)।

नौ वर्णान्तर होते हैं—

१. ब्रह्म-पुरुष—वैश्य स्त्री : अम्बष्ठ, २. क्षत्रिय-पुरुष—शूद्र स्त्री : उग्र, ३. ब्राह्मण पुरुष—शूद्र स्त्री : निषाद या पारासर, ४. शूद्र पुरुष—वैश्य स्त्री : अयोगवम्, ५. वैश्य पुरुष—क्षत्रिय स्त्री : मागध, ६. क्षत्रिय पुरुष—ब्राह्मण स्त्री : सूत, ७. शूद्र पुरुष—क्षत्रिय स्त्री : क्षत्ता, ८. वैश्य पुरुष—ब्राह्मण स्त्री : वैदेह, ९. शूद्र पुरुष—ब्राह्मण स्त्री : चाण्डाल[1]।

वर्णान्तरों के संयोग से जो जातियाँ बनीं, वे चार हैं—१. उग्र पुरुष—क्षत्ता स्त्री : श्वपाक, २. विदेह पुरुष—क्षत्ता स्त्री : वैणव, ३. निषाद पुरुष—अम्बष्ठि या शूद्री स्त्री : बुक्कस, ४. शूद्र पुरुष—निषाद स्त्री : कुक्कुरव[2]।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन में थोड़ा भेद है[3]। कुछ समय पूर्व अम्बष्ठ आदि की गणना इभ्य जातियों में की थी। वे और इस प्रकरण में समागत अम्बष्ठ उग्र आदि एक नहीं हैं। चाणक्य ने लिखा है कि पुराण वर्णित सूत और मागध इनसे भिन्न हैं। वे ब्राह्मण और क्षत्रियों से भी श्रेष्ठ हैं[4]। इस प्रकार एक मनुष्य जाति विविध-संयोगों से विभक्त होती गयी और उस की परिभाषा भी नाना रूप लेती गयी। प्रज्ञापना में केवल कर्मभूमिज मनुष्यों के दो भेद किये हैं—आर्य और म्लेच्छ। उत्तरवती आचार्यों ने अन्तरद्वीपज मनुष्यों के भी वे दो भेद कर डाले[5]। म्लेच्छों की विभिन्न परिभाषाएँ भी बनती गयीं। जो हेय धर्मों से दूर और आदेय धर्मों से निकट है, वे आर्य हैं[6]। जो हेय धर्मों से दूर नहीं हैं, वे

१. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २०-२५
२. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २६-२७
३. कौटिलीय अर्थशास्त्र ३।७।२१-३७
४. 'पौराणिकस्त्वन्यः सूतो मागधश्च ब्रह्मक्षत्राद्द विशेषः।'—वही, ३।७।३१
५. तत्त्वार्थ भाष्य ३।१५; तत्त्वार्थ वार्तिक ३।३६
६. प्रवचन सारोद्धार, पृष्ठ ४४५

अनार्य हैं। जो अव्यक्त भाषा बोलते हैं, वे म्लेच्छ हैं। जिन का व्यवहार शिष्ट सम्मत नहीं है, वे म्लेच्छ हैं[1]। जो पाप है, चण्डकर्म करने वाले हैं, पाप-घृणा से रहित हैं, अकृत्य के प्रति जिन के मन में पश्चात्ताप नहीं है, 'धर्म' इन अक्षरों का जिन्हें स्वप्न भी नहीं आता, कल्पना भी नहीं आती वे अनार्य हैं[2]। प्रश्न-व्याकरण में बतलाया है कि ये विविध प्रकार के क्रूर—हिंसा-कर्म म्लेच्छ मनुष्य करते हैं[3]। आर्य और म्लेच्छ की ये परिभाषाएँ जात्यात्मक नहीं, किन्तु गुणात्मक हैं। प्रारम्भ में जो जात्यात्मक या क्षेत्रगत थीं वे कालक्रम के अनुसार गुणात्मक हो गयीं। आर्य और अनार्य में जो विजेता और पराजित स्वतन्त्र और परतन्त्र का भाव था, वह आगे चल कर धर्म और अधर्म का सूचक हो गया। चाणक्य के समय में भी आर्य शब्द स्वतन्त्र नागरिक और दास परतन्त्र नागरिक के अर्थ में प्रयुक्त होता था। दास मूल्य चुका कर फिर से आर्य अर्थात् स्वतन्त्र नागरिक बन सकते थे[4]। इस प्रकार आर्य शब्द विभिन्न रूपों में हमारे सामने है।

मनुष्य का दूसरा विभाग है—अनार्य। अनार्य देशों में रहने वाले लोग अनार्य कहलाते थे। अनार्य देश ये हैं[5]—१. शक—पश्चिमी भारत का देश या जाति—पंजाब के आसपास ईरान और तुर्कीस्तान के बीच रहने वाले लोग और उन का देश, २. यवन—यूनान, ३. चिलात (किरात), ४. शबर, ५. बर्बर, ६. काय, ७. मुरुण्ड, ८. ओड, ९. भटक (भद्रक) दिल्ली और मथुरा के बीच यमुना नदी के पश्चिम में स्थित प्रदेश, १०. णिण्णग (निम्नग), ११. पक्कणिय—मध्यएशिया का एक प्रदेश प्रकण्व या फरगना, १२. कुलक्ष, १३. गोंड, १४. सिंहल-लंका, १५. पारस-ईरान, १६. गोध, १७. क्रौंच, १८. अम्बष्ठ—एक गण राज्य। यह चिनाब नदी के निचले भाग में था, १९. दमिल—द्रविड, २०. चिल्लल, २१. पुलिन्द, २२. हारोस, २३. दोब, २४. वोक्कण—यह

---

१. प्रज्ञापना १, वृत्ति
२. 'पावा य चंडकम्मा, अगारिया निग्घिणा निरणुतावी।
धम्मोत्ति अक्खराइं, सुमिणे वि न नज्जए जाणं॥'
प्रवचन सारोद्धार, गाथा १५९६
३. प्रश्न व्याकरण आस्रवद्वार १
४. 'मूल्येन चार्यत्वं गच्छेत्।'—कौटलीय अर्थशास्त्र ३।१३।२२
५. प्रज्ञापना पद १, सूत्र ६४

अफ़गानिस्तान का उत्तर-पूर्वी छोटा प्रदेश है, इस का वर्तमान नाम वरवान है, २५. गन्धहारग—कन्धार—कानूकर नदी से तक्षशिला तक का प्रदेश, २६. पह्लिय, २७. अज्झल, २८. रोम, २९. पास, ३०. पउस, ३१. मलय, ३२. बन्धुय-(बन्धुक), ३३. सूयलि, ३४. कोंकणग, ३५. मेय, ३६. पल्हव, ३७. मालव, ३८. मग्गर, ३९. आभाषिक, ४०. अणक्क (अनक्र), ४१. चीण—चीन, ४२. ल्हसिय—ल्हासा, ४३. खस, ४४. खासिय, ४५. णद्दर (नेहुर), ४६. मोंढ ४७. डोंबिलग, ४८. लओस, ४९. पओस, ५०. कक्केय, ५१. अक्खाग, ५२. हूण, ५३. रोमक, ५४. मरु, ५५. मरुक।

प्रश्न व्याकरण में ये नाम थोड़े परिवर्तन के साथ मिलते हैं[1]। यवन के बाद उस में 'चिलाय' नहीं है। भटक के बाद तित्तिय (तित्तिक) है, णिण्णग नहीं है। इस प्रकार थोड़ा अन्तर है। देखें—

प्रज्ञापना	प्रश्नव्याकरण	प्रज्ञापना	प्रश्नव्याकरण
३ चिलाय	०	२३ दोब	२१ डोंब
८ ओड	७ उद	२४ वोक्कण	२२ पोक्कण
०	९ तित्तिय	२५ पह्लिय	२४ बहलीय
१० णिण्णग	०	२७ अज्झल	२५ जल्ल
१३ गोंड	१२ गौड	२९ पास	२७ मास
१६ गोध	१६ अन्ध-आन्ध्र	३० पउस	२८ बउस
१८ अम्बड	०	३२ बन्धुय	३० चुंचुय
२० चिल्लल	१८ बिल्लल	३३ सूयलि	३१ चुलिया
२२ हारोस	२० अरोस	३६ पल्हव	३४ पण्हव

कई नाम भिन्न हैं। वे ये हैं—

प्रज्ञापना	प्रश्नव्याकरण
३८ मग्गर	३६ महुर
४५ णद्दर	४३ णेहर
४६ मोंढ	४४ मरहठ

१. प्रश्न व्याकरण, अधर्मद्वार, सूत्र ४

प्रज्ञापना	प्रश्नव्याकरण
४८ लओस	४५ मुठिय
४९ पओस	४६ आरभ
५१ कक्केय	४९ केकभ
५२ अक्खाग	४८ कुट्टण
५४ भरु	५२ रुस

प्रवचन सारोद्धार में अनार्य देशों के नाम इस प्रकार हैं[1]—

१. शक, २. यवन, ३. शबर, ४. बर्बर, ५. काय, ६. मुरुण्ड, ७. उड्ड, ८. गोपा (गौड्ड), ९. पक्कणग, १०. अरबाग, ११. हूण, १२. रोमक, १३. पारस, १४. खस, १५. खासिक, १६. दुम्बिलक, १७. लकुश, १८. बोक्कस, १९. भिल्ल, २०. आन्ध्र (अन्ध्र), २१. पुलिन्द, २२. क्रौंच, २३. भ्रमररुच, २४. कोर्पक, ३५. चीन, २६. चंचुक, २७. मालव, २८. द्रविड, २९. कुलार्घ, ३०. केकय, ३१. किरात, ३२, हयमुख, ३३. खरमुख, ३४. गजमुख, ३५. तुरंग-मुख, ३६. मिण्ढकमुख, ३७. हयकर्ण, ३८. गजकर्ण ।

महाभारत के उपायन पर्व में इन में से बहुत से नाम मिलते हैं—म्लेच्छ, यवन, बर्बर, आन्ध्र, शक, पुलिन्द, औरुणिक, कम्बोज, आमीर, पल्हव, दरद, कंक, खस, केकय, त्रिगर्त, शिबि, भद्र, हंस कायन, अम्बष्ठ, तार्क्ष्य, प्रहव, वसाति, मौलिय, क्षुद्रमालवक, शौण्डिक, पुण्ड्र, शाणवत्य, कायव्य, दार्व, शूर, वैयमक, उदुम्बर, वाल्हीक, कुंदमान, पौरक आदि ।

नाम, स्थान और जाति-परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्य ने इतने रूप देखे हैं कि आज उस के अतीत की सही-सही पहचान भी एक समस्या हो रही है ।

■

१. प्रवचनसारोद्धार, गाथा १५८३-१५८५ ।

साढ़े पचीस आर्य देशों की पहचान

जैन-साहित्य में आर्य-अनार्य की चर्चा कई रूपों में की गयी है। प्रज्ञापना में साढ़े पचीस आर्य देशों की सूची मिलती है। वह उत्तर-भारत के देशों की सूची है। यह आश्चर्य की बात है कि उस में पश्चिमी मालव, अवन्ती व उज्जैन का उल्लेख नहीं है।

उन साढ़े पचीस आर्य देशों की वर्तमान पहचान इस प्रकार है—

१. **मगध**—मगध जनपद वर्तमान 'गया' और 'पटना' जिलों के अन्तर्गत फैला हुआ था। ये दोनों विहार के ज़िले हैं। इस की राजधानी राजगृह को अब राजगिरि कहा जाता है।

२. **अंग**—अंग जनपद वर्तमान भागलपुर और मुँगेर ज़िलों के साथ उत्तर में कोशी नदी तक फैला हुआ था। ये भी दोनों बिहार के ज़िले हैं। उस की राजधानी 'चम्पा' भागलपुर के पश्चिम में चार मील की दूरी पर थी। उस की पहचान अब नाथनगर से की जाती है। हिन्द चीन की राजधानी 'अनाम' का भी प्राचीन नाम 'चम्पा' है जो उस से भिन्न है।

३. **बंग और लाढ**—बंग से पूर्वी बंगाल का ग्रहण होता है। इस की राजधानी ताम्रलिप्ति थी। उस का आधुनिक नाम 'तामलुक' है, जो रूपनारायण नदी पर बसा हुआ है।

लाढ़ गंगा नदी के पश्चिम का प्रदेश है। इस के दो भाग थे—वज्रभूमि (वीरभूमि) और शुभ्रभूमि (सिंहभूमि) जो हुगली, हवड़ा, बाँकुरा, वर्दमान और मिदनापुर तक फैला हुआ था। मुर्शिदाबाद ज़िले के कुछ भाग तक इस की उत्तरी सीमा थी। बौद्ध साहित्य में इस का नाम 'लाल' और वैदिक साहित्य में 'राढ' मिलता है। इस का प्राचीन नाम 'सुम्द' भी है।

प्रबोध चन्द्रोदय नाटक अंक दो (११ वीं शती) में इस के दो भागों का उल्लेख मिलता है—दक्षिण-राध और उत्तर-राध। अजय नदी के दक्षिणी भाग को दक्षिण-राध और उत्तरी भाग को उत्तर-राध कहा जाता है। लाढ़ की राजधानी कोटिवर्ष या वाणपुर थी। दिनाजपुर ज़िले का वाणगढ़ वही है।

४. कलिंग—आधुनिक उड़ीसा प्राचीन काल में उत्कल और कलिंग इन दो भागों में विभक्त था। पूर्वी समुद्रतट पर कलिंग था। यह उत्कल और द्रविड़ का मध्यवर्ती प्रदेश था। महानदी उसी की सीमा में बहती है।

कुछ विद्वान् आधुनिक भुवनेश्वर को कंचनपुर मानते हैं। किन्तु डॉ० मोतीचन्द का अभिमत है कि अशोक-द्वारा विजित कलिंग की राजधानी कंचनपुर का पता नहीं चलता, पर यह एक बन्दरगाह था जिस के साथ लंका का व्यापार चलता था। बहुत सम्भव है कि यहाँ कलिंग की राजधानी दन्तपुर से तात्पर्य हो जिसे टोलमो ने 'पलुर' कहा है जो श्री लेवो के अनुसार 'दन्तपुर' का तामिल रूपान्तर मात्र है।

५. काशी—बनारस के पास का प्रदेश।

६. कौशल और कुणाल—प्राचीनकाल में कौशल देश उत्तर और दक्षिण—इन दो भागों में विभक्त था। इन का विभाजन सरयू नदी से हुआ। दक्षिण कौशल की राजधानी साकेत (अयोध्या) थी। वह सरयू के तट पर बसी हुई थी। उत्तर कौशल या कुणाल की राजधानी श्रावस्ती थी। वह रासी (अचिरावती) नदी के किनारे पर थी। उस का आधुनिक रूप सहेट-महेट है।

७. कुरु—दिल्ली, मेरठ का प्रदेश कुरु जनपद कहलाता था। इस की राजधानी गजपुर—हस्तिनापुर थी।

८. कुशावर्त और शौरिपुर—डॉ० मोतीचन्द ने कुशावर्त को कान्यकुब्ज और उस की राजधानी सौरिय को आधुनिक सौरा माना है।

आगरा ज़िले में यमुना नदी के किनारे बटेश्वर के पास जो सूरजपुर है, वह प्राचीन शौरिपुर माना जाता था।

वसुदेव हिण्डी के अनुसार आनर्त, कुशावर्त, सुराष्ट्र और शुक-राष्ट्र—ये चार जनपद पश्चिमी समुद्र के किनारे पर थे। इन की प्रधान नगरी 'द्वारका' थी।

महाभारत जन पर्व (अध्याय १६०, श्लोक ५) की टीका में नीलकण्ठ ने कुशावर्त का अर्थ द्वारका किया है। कुशावर्त पश्चिम में है और शौरिपुर उत्तर में। लगता है राजा शौरि ने उत्तर में शौरिपुर बसाया हो। यह भी हो सकता है कि आनर्त आदि चारों जनपदों की अपनी-अपनी राजधानियाँ अलग हों और प्रधान राजधानी द्वारका हो। आनर्त की राजधानी कुशस्थली-द्वारका भी थी और आनर्तपुर आनन्दपुर वर्तमान बड़नगर भी उस की राजधानी थी। इस से उक्त अनुमान किया जा सकता है।

९-१०. पंचाल और जंगल—हिमालय की तलहटी से चम्बल नदी तक फैले हुए प्रदेश को पंचाल कहा जाता था। यह दिल्ली से उत्तर पश्चिम में था। किन्तु बाद में गंगा नदी से विभक्त प्रदेश को उत्तर पंचाल और दक्षिण पंचाल कहा जाने लगा। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा और दक्षिण पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी। उत्तर पंचाल गंगा और रामगंगा के बीच में था। दक्षिण-पंचाल की सीमा गंगा के दक्षिणी किनारे से चम्बल नदी तक थी। उत्तर पचाल का ही दूसरा नाम जंगल है।

११. सौराष्ट्र—काठियावाड़।

१२. विदेह—वर्तमान तिरहुत प्रदेश को विदेह कहा जाता था। इस के पूर्व में कोशी नदी बहती थी। वह वैशाली के उत्तर में था। दरभंगा जिले में जो जनकपुर (मिथिला) है, वह उस की राजधानी थी।

१३. वत्स (वत्स्य)—इलाहाबाद के पश्चिम का प्रदेश वत्स था। वह काशी से सटा हुआ था। इस की राजधानी कौशाम्बी थी। इलाहाबाद के पश्चिम में लगभग तीस मील दूर यमुना नदी के बायें किनारे पर जो 'कोसम' है; उसे प्राचीन कौशाम्बी माना जाता है।

१४. शाण्डिल्य—इस की पहचान लखनऊ के पास जो सण्डोला है, उस से की जाती है।

१५. मलय—मगध के उत्तर में था। रामायण बालकाण्ड (सर्ग २४) में 'मलद' नाम मिलता है। शाहाबाद जिले में मलद माना जाता है। भद्दिलपुर—हजारीबाग जिले का भदिया गाँव माना जाता है।

१६. **मत्स्य**—जयपुर, अलवर और भरतपुर का कुछ भाग मत्स्य देश कहलाता था। वैराट जयपुर से उत्तर में ४० मील और दिल्ली से दक्षिण में १०५ मील है।

१७. **अच्छ** (**अत्स्य**)—अच्छ देश मथुरा से ऊपर की ओर था। कुछ विद्वानों की दृष्टि में उस की कहीं जानकारी प्राप्त नहीं है।

उस की राजधानी 'वरण' थी। वरण का आधुनिक नाम बुलन्दशहर है। एक जैन शिलालेख में वरण का नाम 'अच्छनगर' मिलता है।[1] अच्छ नाम देश का है। सम्भव है उस की राजधानी वरण अच्छनगर रहा हो।

१८. **दशार्ण**—इस नाम के दो देश मिलते हैं। एक पूर्व में और दूसरा पश्चिम में। पूर्व दशार्ण मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ जिले में है। पश्चिम दशार्ण में भोपाल-राज्य और पूर्वमालव का समावेश होता था। मृत्तिकावती बनारस नदी के पास बसी हुई एक नगरी थी। उसे दशार्ण की राजधानी बताया है। इस लिए यहाँ पश्चिम दशार्ण ही इष्ट है। यह विदिशा (आधुनिक भेलसा) का प्रदेश है।

१९. **चेदि**—यह बुन्देलखण्ड मध्यप्रदेश के उत्तरी भाग में था। उस की राजधानी श्रुतिमती शायद 'बान्दा' के पास थी।

२०. **सिन्धु**—सिन्धु तथा पश्चिमी पंजाब का प्रदेश। मुलतान के आस-पास के प्रदेश को सौवीर माना जाता है। सिन्धु-सौवीर का प्रयोग बहुधा साथ-साथ हुआ है। उस की राजधानी वीतमय की पहचान पाकिस्तान में शाहपुर जिले के 'भेरा' नामक स्थान से की जाती है।

२१. **शूरसेन**—यह मथुरा के पास के प्रदेश में विस्तृत था।

२२. **भंगी**—यह सम्मेद शिखर के आस-पास के प्रदेश में था। इस का विस्तार हजारीबाग और मानभूम जिले (बिहार) में था।

२३. **वर्त**—इस की जानकारी प्राप्त नहीं है।

२४. क्रमांक ६ के साथ दिया हुआ है।

२५. क्रमांक ३ के साथ दिया हुआ है।

---

१. एपि० इण्डि पु० १, पृ० ३७५

२६. केकय—इस नाम के दो प्रदेश थे। एक था खिवाड़ा-नमक की पहाड़ी अथवा शाहपुर झेलम—गुजरात। दूसरा श्रावस्ती के उत्तरपूर्व में नेपाल की तराई में अवस्थित था। यहाँ सम्भवतः यही अभिमत है। उस की राजधानी श्वेताम्बिका थी। वह शायद श्रावस्ती और कपिलवस्तु के मध्य में नेपालगंज के पास थी।

■

शब्दों के संसार में

शब्द-जगत् अर्थ-जगत् से कम विशाल नहीं है। एक दृष्टि है, जितने शब्द हैं उतने ही अर्थ, और जितने अर्थ हैं उतने ही शब्द। दूसरी दृष्टि है, अर्थ कम हैं, शब्द अधिक। एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द हैं। स्थूल दृष्टि से यह सही भी है। शब्द-कोशों में एक अर्थ के लिए अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं। सूर्य, चन्द्र जैसे अर्थों के वाचक पर्याय-शब्दों की भरमार है। समभिरुढ़ नय के अनुसार पर्यायवाची शब्द होते ही नहीं। प्रत्येक शब्द का वाच्य-अर्थ भिन्न होता है। यह अधिक शुद्ध दृष्टि है। इस से वर्त्तमान अतीत से अधिक सम्पर्क स्थापित कर सकता है। पर्यायवाची शब्द वस्तु के विविध रूपों के निरखने की विश्लेषणात्मक दृष्टि नहीं देते। समभिरूढ़ दृष्टि से हम प्रत्येक शब्द का व्यवहार भिन्न अर्थ के लिए ही करते हैं। इस से वस्तु के विविध रूपों की स्पष्ट जानकारी मिलती है।

शब्द-सृष्टि के पीछे इतिहास होता है। कालान्तर में शब्द रूढ़ हो जाता है, इतिहास विस्मृत। कुछ शब्द मानसिक भावों की विशिष्ट अभिव्यक्ति से सृष्ट होते हैं। कालान्तर में विशिष्ट अभिव्यक्ति गौण हो जाती है, कोरा कलेवर रह जाता है। कालक्रम के अनुसार शब्द के अर्थ का उत्कर्ष, अपकर्ष, संक्रान्ति और परिवर्तन होता रहता है। इस लिए हम अतीत को सम्यक् प्रकार से नहीं पहचान पाते। अतीत और वर्त्तमान की यह खाई तभी पट सकती है, जब शब्द-कोशकार गहरी डुबकियाँ लें। शब्दकोश में प्राचीन और प्रचलित दोनों अर्थों का निर्देश हो तो सहज ही भावना का सामंजस्य हो जाये।

साधारणतः हम लोग अतीत को वर्त्तमान की दृष्टि से देखा करते हैं इस लिए अनेक उलझनें हमारे सामने आती हैं। जैन-सूत्रों में पृथ्वी का आकार थाली की भाँति और झल्लरी की भाँति वृत्त बतलाया गया है। इन्हीं कल्पनाओं के

आधार पर पृथ्वी चिपटी मानी जाती है। आज स्थाली शब्द का व्यवहार भोजन करने की थाली के लिए ही प्रचलित रह गया है। भोजन पकाने की हण्डियों के लिए उस का व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार झल्लरी शब्द सुनते ही हमारा ध्यान झालर की ओर जाता है, किन्तु झांझ को, और सहज ही नहीं जाता। किन्तु सूत्रकार ने स्थाली और झल्लरी का प्रयोग भोजन करने की थाली और झालर के लिए किया है या भोजन पकाने की हण्डियां और झांझ के लिए, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। इस कठिनाई से दो अर्थ-परम्परा हो जाती है। एक के अनुसार पृथ्वी चिपटी और दूसरी के अनुसार वह गोल होती है। एक वाच्य के लिए अनेक शब्द जैसे समस्या की सृष्टि करते हैं, वैसे ही अनेक वाच्यों के लिए एक शब्द भी समस्या की सृष्टि करता है। परन्तु इन समस्याओं का समाधान निकालना सरल नहीं है। पर्याय शब्दों का परित्याग भी नहीं किया जा सकता और एक शब्द की अनेक अर्थ-प्रतिपादन-शक्ति को भी नहीं मिटाया जा सकता। जो समस्या सहज ही समाहित हो सकती है, उस की ओर ध्यान देना अपेक्षित है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थों में शब्द के मूल वाच्य बहुत सुरक्षित हैं। आधुनिक शब्द-कोशकार यदि उन का उपयोग करें तो हमारा अर्थ-स्पर्शी दृष्टिकोण बहुत विशद हो जाये। शब्दकोशों में घर के अनेक नाम मिलते हैं—गृह, अगार, लयन, प्रासाद, शरण, भवन, आवास आदि। साधारणतः प्रासाद को छोड़ कर शेष शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं, इस लिए न तो हमारा ध्यान इन के पार्थक्य की ओर जाता है और न इन को विशेष वाच्य-शक्ति को ही हम जान पाते हैं। गृह शब्द सामान्यतः घर का वाचक है। अगार का वाचक विशेष है। जो गृह प्रधानतः अग (काष्ठ) निर्मित होता है, वह अगार कहलाता था।[1] इसी प्रकार लयन और शरण भी सामान्य गृह वाचक नहीं हैं। लयन का अर्थ उत्कीर्ण पर्वत-गृह, गिरि-गुहा,[2] कार्पटिकों का आवास स्थान और शरण का अर्थ था तृणमय गृह।[3] लयन का प्राकृत रूप लेण भी

१. 'न गच्छन्तीत्यगाः वृक्षाः। अगैः कृतमगारं गृहमित्यर्थः।'
—दशवैकालिक जिनदास चूर्णि, पृ० २६

२. लयनानि—उत्कीर्णपर्वतगृहाणि, गिरिगुहा वा कार्पटिकाद्यावासस्थानं वा
—अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र, १४६

३. 'शरणानि तृणमयावसथकादीनि।—अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

मिलता है। अजन्ता के लिए आज भी उस प्रदेश के लोग लेणी शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रासाद का प्रयोग देव-कुल और राज-कुल के ऊँचे गृह के लिए किया जाता है। लम्बाई की अपेक्षा जिस की ऊँचाई कुछ कम होती, उसे भवन और लम्बाई से जिस की ऊँचाई दूनी होती उसे प्रासाद कहा जाता था।[१] चक्रवर्ती का प्रासाद एक सौ आठ हाथ, वासुदेव का प्रासाद चौंसठ हाथ माण्डलिक राजा का प्रासाद बत्तीस हाथ और जन-साधारण का प्रासाद सोलह हाथ का होता था।[२] जो गृह बाहर से वृत्त, अन्दर समचौरस और नीचे कर्णिका के संस्थान वाले होते, उन्हें भवन कहा जाता था। झोंपड़ी के आकार वाले जो महामण्डप होते उन्हें आवास कहा जाता था।[३]

मुकुट और किरीट पर्यायवाची माने जाते हैं किन्तु इन में भी अर्थ-भेद रहा है। जिस के तीन शिखर होते उसे मुकुट और जिस के चौरासी शिखर होते उसे किरीट कहा जाता था।[४]

आराम, उद्यान, कानन, वन, वन-खण्ड और वनराजि—ये बाग़ या जंगल के अर्थ में व्यवहृत होते हैं किन्तु इन का भी विशेष अर्थ है। आराम का अर्थ है कृत्रिम वन। यह क्रीड़ा या विशेषतः दम्पती क्रीड़ा के लिए होता था।[५] यह पुष्प-प्रधान होता था।[६] पुष्प और फल से समृद्ध अनेक वृक्षों से जो संकुल होता और उत्सव के दिनों में जहाँ जनता समवेत होती, उसे उद्यान कहा जाता था।[७]

---

१. 'प्रासादभवनयोः को विशेषः ? उच्यते भवन मायामापेक्षया किंचिन्न्यूनोच्छ्रायमानं भवति, प्रासादस्तु आयामद्विगुणोच्छ्रायः।'—ज्ञातधर्मकथा १।१ वृत्ति

२. अट्ठसयं चक्कीणं, चउसट्ठी चेव वासुदेवाणं। बत्तीसं मंडलीए, सोलसहत्था उ पागतिए।
—व्यवहार भाष्य ६।४६

३. 'भवनानामावासानां चायं विशेषः—भवनानि बहिर्वृत्तान्यतः समचतुरस्राणि, अधः कर्णिका-संस्थानानि। आवासास्तु कायमानस्थानीया महामण्डपाः।'—प्रवचन सारोद्धार, द्वार १६४, पत्र ३३२

४. 'तिहिं सिहरएहिं मउडो वुच्चति, चतुरसीहिं तिरीडं।'—सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ० ३६०

५. 'माधवी लतादिषु दम्पत्यादीनि येष्वारमन्ति क्रीडन्ति ते आरम्भाः।'—अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

६. आरामा पुष्पजातिप्रधाना वनखण्डाः—भगवती ६।३३

७. 'पुष्पफलादिसमृद्धानेकवृक्षसंकुलानि उत्सवादौ बहुजनपरिभोग्यानि उद्यानानि।'
—अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

उत्सव-भोज के लिए उद्यान प्रमुख स्थान होता था।[1] उद्यानिका एक आमोद-प्रमोद पूर्ण यात्रा होती थी।[2] कानन और उद्यान दोनों नगर के समीप होते थे। उद्यान कुछ ऊँचाई पर होता था। इस का शब्दार्थ ही है, ऊर्ध्व-यान[3]। जिस में बड़े वृक्ष होते, वह कानन कहलाता था[4]। ये वृक्ष साधारण जाति के होते थे। कानन की विशेष मर्यादा होती थी। यह केवल स्त्रियों या केवल पुरुषों के लिए भी होता था[5]। जिस के आगे कोई पहाड़ या अटवी होती थी, उसे भी कानन कहा जाता था[6]। जो एक जातीय वृक्षों से आकीर्ण होवे उन्हें वन, अनेक जातीय एवं उत्तम वृक्षों से आकीर्ण होते, उन्हें वन-खण्ड कहा जाता था[7]। एक जातीय या अनेक जातीय तरु-पंक्तियों को वन-राजि कहा जाता था।[8]

जिस प्रकार स्तूप, सिक्के, शिलालेख आदि इतिहास के संरक्षक हैं, वैसे ही ये पर्याय शब्द भी इतिहास के सुरक्षा के प्रहरी हैं। इन के माध्यम से हम सभ्यता, संस्कृति और परम्परा का यथार्थ दर्शन पा सकते हैं। यह अनादि-अनन्त संसार परिवर्तनशील है। इस में न कोई सर्वथा नया है न कोई सर्वथा पुराना। जो सुदूर अतीत के गर्भ में चला जाता है, विस्मृति के कोने में छिप जाता है, वह फिर जब सामने आता है, तब वह नया होता है। वही सुपरिचित हो कर पुराना बन जाता है। यदि शब्दों का विकास नहीं होता तो हमारे लिए अधिकांश नया होता। किन्तु शब्दों की उत्पत्ति में ऐसा नहीं है। उन की उत्पत्ति इसी लिए होती है कि वे समुत्पन्न अर्थ को चिरकाल तक सुरक्षित रखें। प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ व्याख्या-ग्रन्थों में सुरक्षित रहे हैं।

१. 'उद्यानानि पत्रपुष्पफलच्छायोपशोभितानि बहुजनस्य विविधवेषस्योन्नतमानसस्य भोजनार्थं यानं येष्विति।'

२. उज्जाणं जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति। —निशीथ चूर्णि ८

३. 'उर्ध्वयानमस्मिन्निति उद्यानम्।'—आवश्यक वृत्ति ४

४. काननैः—वृहद्द वृक्षाश्रयैर्वनैः।'—उत्तराध्ययन १९।१, बृहद्द वृत्ति

५. 'सामान्यजातिवृक्षयुक्तानि नगराभ्यर्णवर्तीनि काननानि अथवा स्त्रीणां पुरुषाणां] वा केवलानां परिभोग्यानि काननानि।'—अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

६. 'येभ्यः परतो भूधरो अटवी वा तानि सर्वेभ्योऽपि वनेभ्यः पर्यन्तवर्तीनि काननानि'—अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

७. 'एकजातीयवृक्षाकीर्णानि वनानि, अनेकजातीयैः सत्तमैश्च पादपैराकीर्णानि वनखण्डानि।' अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

८. 'एकजातीयानामितरेषां वनतरूणां पङ्क्तयो वनराजयः।'—अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

'सन्तो भजन्ते' इन शब्दों द्वारा सभा शब्द व्युत्पन्न होता है। इस का प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ है पुस्तक-वाचन भूमि, जन-समागम भूमि।[1] हम 'तडाग' और 'सर' को इसी लिए एक मान बैठते हैं कि उन के प्रवृत्ति-लभ्य अर्थ की ओर ध्यान नहीं देते। तड़ाग का अर्थ है खोदा हुआ जलाशय और सर का अर्थ है स्वयं सम्भूत जलाशय[2]।

खातिका और परिखा की भी यही स्थिति है। जो नीचे और ऊपर से समान रूप से खोदी हुई हो, वह खातिका—खाई और जिस की खुदाई नीचे से संकीर्ण और ऊपर से विस्तीर्ण हो, वह परिखा होती है।[3]

इस प्रकार असंख्य शब्द असंख्य अर्थों को अपने में समेटे हुए हैं। उन के अन्तराल को पहचानना हमारा कर्त्तव्य है।

■

१. 'सन्तो भजन्त्येतामिति सभा-पुस्तकवाचनभूमिर्बहुजनसमागमस्थानं वा।' —अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

२. 'तडागः—खानितो जलाशयविशेषः। सरः—स्वयं सम्भूतो जलाशयविशेषः।' —अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

३. 'अध उपरि च समखातरूपा खातिका, अधः संकीर्णोपरि विस्तीर्णा खातरूपा तु परिखा।' —अनुयोगद्वार वृत्ति, पत्र १४६

वनस्पति का वर्गीकरण

जैन आगम-सूत्रों में जीवों के छह् काय या निकाय माने गये हैं—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्-काय, वायु-काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय। इन में वनस्पति-काय सब से विशाल है। इसी लिए इसे दीर्घ-काय कहा गया है।

आगम-सूत्रों में वनस्पति का वर्गीकरण है। वह वनस्पति-शास्त्रीय और शब्द-शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से अत्यन्त उपयोगी है। आचारांग सूत्र (ई० पू० ३००-४००) में वनस्पति को मनुष्य से तुलना की गयी है—

१. जैसे मनुष्य सचेतन है, वैसे ही वनस्पति भी सचेतन है।

२. जैसे मनुष्य-शरीर जाति (जन्म) धर्मक है, वैसे वनस्पति भी धर्मक है।

३. जैसे मनुष्य-शरीर बाल, युवा और वृद्ध होते हैं, वैसे वनस्पति भी बाल, युवा और वृद्ध होती है।

४. जैसे मनुष्य-शरीर छिन्न होने से म्लान होता है, वैसे वनस्पति भी छिन्न होने से म्लान होती है।

५. जैसे मनुष्य-शरीर आहार-धर्मा है, वैसे वनस्पति भी आहार-धर्मा है।

६. जैसे मनुष्य-शरीर अशाश्वत है, वैसे वनस्पति भी अशाश्वत है।

७. जैसे मनुष्य-शरीर में इष्ट और अनिष्ट आहार से वृद्धि और हानि होती है, वैसे ही वनस्पति में इष्ट और अनिष्ट आहार से वृद्धि और हानि होती है।

८. जैसे मनुष्य-शरीर विविध परिणमन युक्त कभी सरोग और कभी नीरोग होता है, वैसे वनस्पति भी कभी सरोग और कभी नीरोग होती है।

वनस्पति में श्वासोच्छ्वास आदि का अस्तित्व भी बहुत प्राचीन काल से माना गया है।

वनस्पति का वर्गीकरण

वनस्पति जीवों के मुख्य वर्ग दो हैं—

१. साधारण-शरीर ।

२. प्रत्येक-शरीर ।

एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं, उस वनस्पति को साधारण शरीर कहा जाता है। एक शरीर में एक ही जीव होता है, उसे प्रत्येक शरीर कहा जाता है।

साधारण शरीर वनस्पति

प्राकृत	हिन्दी
सूरण कन्द	सूरण कन्द
वज्ज कन्द	वज्र कन्द
अल्ल हलिद्दा	आर्द्र हरिद्रा
अल्ल	आर्द्रक (अदरक)
थोहरी	थुहर
गलोई	गडूची-गिलोय
ल्हसण	लहसुन
गज्जर	गाजर

साधारण वनस्पति के ये कुछेक उदाहरण हैं।

प्रत्येक-शरीर वनस्पति के बारह प्रकार हैं—

प्राकृत	हिन्दी
१. रुक्ख	वृक्ष, रूख (राजस्थानी)
२. गुच्छ	गुच्छ
३. गुम्म	गुल्म
४. लया	लता
५. वल्ली	बेल
६. पव्वग	पर्वज
७. तण	तृण
८. वलय	वलय

प्राकृत	हिन्दी
९. हरिय	हरित
१०. ओसहि	ओषधि
११. जलरुह	जलरुह
१२. कुहणा	कुहणा

१. वृक्ष दो प्रकार के होते हैं—एक-बीजक और अनेक-बीजक।

(क) **एक-बीजक वृक्ष**—णिम्ब—नीम, विहेलय—बेहणा, सीसव—सीसम, अम्ब—आम, हरिडय—हरड़।

(ख) **अनेक बीजक वृक्ष**—तेन्दु—तन्दु-आबनूस, अम्बाडग—अम्बाडा, फणिस—कटहल, कविट्ठ—कैथ, बिल्ल—बेल, दालिम—अनार। दाड़िम।

२. **गुच्छ**—

तुलसी—तुलसी, बयर—बेर, कतुम्बरी—कस्तुम्बरी-धनिया, सण—सन।

३. **गुल्म**—

कोरण्ट्य—कट सरैया, जूहिया—जूही, मोग्गर—मोगरा, मल्लिया—मालती।

४. **लता**—

पउमलया—पद्मलता, चम्पगलया—चम्पक लता, अइमुत्तय लया—अतिमुक्तक लता (माधवी), णागलया—नागलता, असोगलया—अशोकलता।

५. **वल्ली**—

तउसी—त्रपुषी, ककड़ी की बेल, मुद्दिया—मृद्वीका, अंगूर की बेल, कालिंगी—तरबूज की बेल।

६. **पर्वजा**—

इक्खू—ईख, सर—शर, सरकना, वंस—बाँस, वेत्त—बेंत।

७. **तृण**—

दब्भ—डाभ, अज्जुण—अर्जुन, कुस—कुश, आसाढय—आषाढ़क।

८ **वलय**—

ताल—ताड़, कयली—केला, नालिएर—नालियर, सरल—चीड़, खज्जूर—खजूर।

९. हरित—

पालक्क—पालख, सरिसव—सरसों, पोइ—पोइ का साग।

१०. औषधि—

एक फसला पौधा, चाउल—चावल, गोहूम—गेहूँ, मुग्ग—मूँग, पलिमन्थ—चना, मसूर—मसूर, सतीण—मोठ।

११. जलरुह—

पणय—पनक, उप्पल—उत्पल, सयपत्त—शतपत्र, सेवाल—सेवाल, पोक्खल—पुष्कर, हढ—हट, जलकुम्भी।

१२. कुहणा—

भूफोड़ा, छत्तोय—सर्प छत्र, णहिया—नक्लिका, वंसी—वंसी।

वनस्पति के इन बारह प्रकारों में अनेक नाम उल्लिखित हैं। यहाँ उन में से कुछेक उद्धृत किये गये हैं। इन से तीन बातें विशेष फलित होती हैं—

१. हिन्दी के कोशकार प्राचीन भारतीय साहित्य का तलस्पर्शी अध्ययन करें। ऐसा करने से वनस्पति-शास्त्र, प्राणी-शास्त्र आदि विभिन्न शाखाओं के प्रामाणिक कोश प्रस्तुत किये जा सकेंगे। इस से अँगरेजी का स्थान लेने में हिन्दी शीघ्र क्षम होगी।

२. भाषा-शास्त्रियों के लिए भी प्राकृत का गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। हमारी वर्त्तमान भाषाओं व बोलियों पर उन का कितना प्रभाव है, इस की सूक्ष्म मीमांसा अभी पर्याप्त मात्रा में नहीं हुई है।

अनेक विद्वान् इस मत की पुष्टि करते हैं कि वर्त्तमान भाषाएँ संस्कृत से प्रभावित हैं। मैं इस अभिमत का पूर्णतः निरसन तो नहीं करता, किन्तु उस के साथ इतना-सा और जोड़ देना चाहता हूँ कि उन का मूल प्राकृत है और वे संस्कृत से प्रभावित हैं। संस्कृत में भी अनगिन प्राकृत शब्द प्रवेश पा चुके हैं। शब्द-परिवर्तन की दिशा में भी प्राकृत का संस्कृत की अपेक्षा अधिक योग है। उक्त शब्दों में से दो शब्दों बयर—बैर और कयली—केला पर आप ध्यान दें। ऐ का इ और य का ऐ या ए के रूप में बदलना यह सूचित करता है कि प्राकृतों की प्रकृति में इ, ऐ, ए और य में बहुत निकट का सम्बन्ध है। जैसे—

संस्कृत	प्राकृत	राजस्थानी	
कैतव	कइतव	कइतव	ऐ—इ
कदली	कयलो	केला	य—ए
बदर	बयर	बैर	य—ऐ
वचन	वयण	वैण	य—ऐ
स्वजन	सयण	सैण	य—ऐ

३. वर्तमान वनस्पति-शास्त्र के साथ प्राचीन वनस्पति-शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन किया जाना आवश्यक है। उस से भारतीय विद्या की स्थिति स्पष्ट होगी तथा अतीत और वर्तमान का सामंजस्य होगा।

■

जैन आगमों के कुछ विचारणीय शब्द

पम्ह या पम्प

जैन आगमों में छह लेश्याएँ प्ररूपित हैं। उन में पाँचवीं लेश्या पद्म है। पद्म का प्राकृत रूप 'पम्म' या 'पउम' हो सकता है किन्तु श्वेताम्बर साहित्य—आगम व आगमेतर ग्रन्थों में 'पम्ह' रूप मिलता है। पम्ह का संस्कृत रूप पक्ष्म होता है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार 'क्ष्म' को 'म्ह' होता है[1] : पक्ष्म—पम्ह, पद्म—पम्म या पउम।

पम्ह का संस्कृत रूप पद्म नहीं होता—यह प्रश्न इतने लम्बे समय में क्यों नहीं उठा ? पम्ह का प्रयोग किसी एक स्थल में एक बार नहीं है, किन्तु अनेक बार है। इस स्थिति में यह मान लेना कि लिपि-दोष के कारण यह रूप-परिवर्तन हो गया, सहज नहीं है। उच्चारण-भेद के कारण हुआ हो, यह फिर भी सम्भव हो सकता है। पम्म और पम्ह के उच्चारण में बहुत कम भेद है। किन्तु यह उच्चारण-भेद सर्वत्र स्थान पा गया, यह भी कठिन कल्पना है। स्थानांग सूत्र में पम्ह, पम्ह कूड, पम्ह-गावती, पम्ह-लेस्सा, पम्हा और पम्हावई—इतने प्रयोग मिलते हैं। इन में वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने पम्ह[2] का संस्कृत रूप पक्ष्म और पम्हकूड का संस्कृत रूप पद्मकूट किया है।[3] किन्तु वर्तमान प्राकृत व्याकरणों से इस का समर्थन नहीं होता। उन के अनुसार पम्हकूड का संस्कृत रूप पक्ष्मकूट ही हो सकता है।

लेश्याओं के नाम वर्ण के आधार पर हैं—

---

१. हेमशब्दानुशासन ८।२।७४
२. स्थानांग वृत्ति, पत्र २७०
३. स्थानांग वृत्ति, पत्र ६२

लेश्या	वर्ण
कृष्ण	काला
नील	हरा
कापोत	कबूतरिया रंग, धूम्र वर्ण
तेजस्	अग्निकण, लाल
पद्म	पद्मगर्भ वर्ण, पीला
शुक्ल	सफ़ेद

पद्म का अर्थ लाल है। छठे तीर्थंकर का नाम पद्मप्रभ है। उन का वर्ण रक्त बतलाया गया है।[1] माणक धातु का नाम पद्मराग है। वह लाल होता है। इसी लिए उसे लोहितक और अरुणोपल कहा गया है।[2]

पद्म लेश्या का वर्ण हरिताल, हल्दी आदि के समान पीत बताया गया है। इस पर यह सन्देह होता है कि पीत लेश्या के पुद्गलों को पद्म क्यों कहा गया? इस का समाधान हम निम्न शब्दों में पा जाते हैं। पद्म पीला नहीं होता, किन्तु उस का गर्भ भाग पीला होता है। उसी के आधार पर इस लेश्या का नाम पद्म रखा गया है। अभयदेव सूरि ने इसे पद्म गर्भवर्ण वाली बताया है।[3]

यदि पम्ह का पक्ष्म रूप किया जाये तो भी पीत वर्ण के साथ इस का सम्बन्ध हो सकता है। पक्ष्म का एक अर्थ केसर (किंजल्क—पुष्परेणु) है। पुष्परेणु के समान पीत वर्ण वाली लेश्या को पक्ष्म-लेश्या कहा जा सकता है।

इस चिन्तन के तीन फलित होते हैं—१. पम्प का रूप-परिवर्तन हो कर पम्ह शब्द प्रचलित हुआ है। २. पद्म का पम्म रूप आर्ष व्याकरण-सिद्ध हो तो भले हो किन्तु वर्तमान प्राकृत-व्याकरण से यह सिद्ध नहीं है। ३. पम्ह का संस्कृत रूप पक्ष्म किया जाय तो भी अर्थ में संगति हो सकती है।

इन तीनों फलितों पर विशेष विमर्श के लिए मैं अनुसन्धित्सु वर्ग को सादर आमन्त्रित करता हूँ।

---

१. 'रक्तौ च पद्मप्रभवासुपूज्यौ।'—अभिधान चिन्तामणि १।४६

२. वही, ४।१३०

३. 'पद्मगर्भवर्णा लेश्या पीतवर्णेत्यर्थः, पद्मलेश्या...।—स्थानांग वृत्ति, पत्र २२१

भोग या भोज

रूप-विपर्यय के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उन में एक है भोग। वंश के प्रकरण में 'उग्गा भोगा राइण्णा—ऐसा पाठ मिलता है। भोग शब्द का मूल भोज है। भोजवंश महाभारत कालीन प्रसिद्ध वंश है। उत्तराध्ययन[1] तथा [2]दशवैकालिक में 'भोग' का प्रयोग मिलता है। उत्तराध्ययन के वृत्तिकार श्री शान्ति-सूरि ने 'भोग' का संस्कृत रूप 'भोज' किया है।[3] औपपातिक (सूत्र १४) में 'भोग पव्वइया' पाठ है। अभयदेवसूरी ने उस का अर्थ भोग (आदिदेव का गुरुस्थानीय वंश) किया है। यह मूल से दूर है। इस प्रकार एक ही शब्द अनेक आचार्यों-द्वारा अनेक अर्थों में व्याख्यात हुआ है।

ज्ञात या नाग

'भगवान् महावीर ज्ञातपुत्र थे या नागपुत्र ?'—शीर्षक मेरे लेख की ओर संकेत करते हुए पं० बेचरदासजी जीवराजजी डोसी ने लिखा है—"कुछ समय पूर्व अनेकान्त नामक जैन पत्र में, एक जैन मुनि ने नायपुत्त का संस्कृत रूपान्तर नागपुत्र कर के श्रमण भगवान् महावीर को नागवंशी प्रमाणित करने का यत्न किया है। यह प्रयत्न जैन और बौद्ध साहित्य तथा ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से सर्वथा असंगत है। जब कि बौद्ध त्रिपिटक ग्रन्थों के मूल में 'दीघ तपस्सी निग्गंठो नातपुत्तो' के रूप में अनेकशः भगवान् महावीर के लिए 'नातपुत्त' शब्द का प्रयोग हुआ है और वह साक्षी रूप में आज भी निर्विवाद रूप से पाली त्रिपिटक में उपलब्ध है, तब प्राकृत जैनागमों में प्रयुक्त नातपुत्त का संस्कृत रूप नागपुत्त समझना और भगवान् महावीर को इतिहास प्रसिद्ध ज्ञातवंश से सम्बन्धित न मान कर उन का नागवंश से सम्बन्ध जोड़ना स्पष्ट ही निराधार कल्पना नहीं तो और क्या है ? आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों ने भी नायपुत्त का ज्ञातपुत्र ही संस्कृत रूप बताया है। और अनेकत्र उन का ज्ञात-नन्दन के रूप में उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में व्यर्थ की

---

१. उत्तराध्ययन, २२।४३

२. दशवैकालिक, २।८

३. बृहद् वृत्ति, पत्र ४६५

निराधार एवं भ्रान्त कल्पनाओं के आधार पर हम अपने प्राचीन उल्लेखों एवं मान्यताओं को सहसा कैसे झुठला सकते हैं।[1]

चाहे फासुअ शब्द को लीजिए, चाहे नायपुत्त शब्द को या किसी और शब्द को। प्राचीन प्राकृत विशेष नामों के संस्कृत रूपान्तर की कल्पना करते समय बहुत बड़ी सावधानी की अपेक्षा है। अन्यथा स्व-कल्पना प्रेरित मात्र शब्द-साम्य की दृष्टि संस्कृतीकरण की प्रवृत्ति से, केवल एक और अधिक नयी भ्रान्ति उत्पन्न करने के अतिरिक्त और कुछ भी परिणाम नहीं होगा[2]।"

पं० बेचरदासजी नायपुत्त रूप करने पर यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि "आचार्य हरिभद्र और आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राचीन बहुश्रुत आचार्यों ने भी नायपुत्त का ज्ञातपुत्र ही संस्कृत रूप बताया है और अनेकत्र उन का ज्ञात नन्दन के रूप में उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में व्यर्थ की निराधार एवं भ्रान्त कल्पनाओं के आधार पर हम अपने प्राचीन उल्लेखों एवं मान्यताओं को सहसा कैसे झुठला सकते हैं ?"

किन्तु दूसरी ओर फासुअ शब्द का अनेक बहुश्रुत आचार्यों द्वारा 'प्रासुक' रूप किया गया है, उस के स्थान पर पण्डित जी 'स्पर्शुक' रूप को उपयुक्त बताते है।[3]

मडाई—मृतादी का अर्थ क्या अभयदेवसूरि ने प्रासुक-भोजी नहीं किया है ? किन्तु पण्डितजी इस का अर्थ याचित-भोजी करना चाहते हैं और वह उपयुक्त भी लगता है।[4]

इसी प्रकार नायपुत्त का अर्थ यद्यपि अनेक बहुश्रुत आचार्यों ने ज्ञातपुत्र किया है किन्तु वंश-इतिहास के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वह संगत नहीं है। इस का प्रतिपादन मैं अपने दो निबन्धों (भगवान् महावीर ज्ञातपुत्र थे या

---

१. औपपातिक वृत्ति, पृ० ६०

२. रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, आगम और व्याख्या साहित्य, पृ० १०१

३, ४. वही, पृ० १०१

नागपुत्र ?', 'भगवान् महावीर और नागवंश') में कर चुका हूँ। आचार्य अभयदेवसूरी भी नाय के संस्कृत रूप के बारे में असन्दिग्ध नहीं थे। उन्होंने औपपातिक (सूत्र १४) में आये हुए 'णाय' शब्द के दो रूप किये हैं—ज्ञात या नाग[1]। अत: 'णाय' का 'नाग' रूप निराधार नहीं।

■

१. 'ज्ञाताः इक्ष्वाकुवंशविशेषभूताः नागा वा—नागवंशप्रसूताः।'—औपपातिक १४, वृत्ति पृ० ५०

पार्श्वस्थ

समय परिवर्तन के साथ केवल मनुष्य ही नहीं बदलता, सब-कुछ बदलता है। भौगोलिक स्थितियाँ बदलती हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, शब्द बदलते हैं और उन का अर्थ भी बदलता है। बदली हुई स्थितियों, शब्दों और अर्थों को पकड़ना सहज नहीं होता। प्रत्येक वाङ्मय के लिए यह सत्य है कि वह जितना पुराना होता जाता है, उतना ही दुर्गम बन जाता है। समय की दूरी अर्थ की दूरी ला देती है। जैन-वाङ्मय भी इस सत्य का अपवाद नहीं है। पचीस सौ, दो हज़ार, पन्द्रह सौ या हज़ार वर्ष पुराना जो साहित्य है, उस में पाठ और अर्थ दोनों का बहुत परिवर्तन हुआ है। उस के कई कारण ये हैं—१. नाना देश की भाषाओंका अपरिचय, २. लिपि-दोष, ३. स्मृति-दोष, ४. शब्दार्थ-परिवर्तन, ५. परम्परा-विच्छेद।

इस लेख में मुख्यतः शब्दार्थ परिवर्तन की चर्चा की जायेगी। 'पासत्थ' जैन आगमों का प्रचलित शब्द है[1]। पासत्थ, ओसन्न, कुसील, संसत्त और अहछन्द—इन श्रमणों को अवन्दनीय कहा गया है[2]। 'पासत्थ' के संस्कृत रूप दो बनते हैं—पार्श्वस्थ और पाशस्थ। इस लिए इन दोनों के आधार पर इस की व्याख्या की गयी है। जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पार्श्व-तट पर ठहरता है, वह पार्श्वस्थ होता है[3]। मिथ्यात्व आदि के पाश से जो बद्ध होता है, वह पाशस्थ कहलाता है[4]। किन्तु पासत्थ का मूल-स्पर्शी संस्कृत रूप केवल पार्श्वस्थ ही होना चाहिए। पाशस्थ कोरा बौद्धिक है, मूल-स्पर्शी नहीं। पार्श्वस्थ का अर्थ, ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पार्श्व-तट पर ठहरने वाला भी मौलिक नहीं लगता।

१. सूत्रकृतांग १।७।२६
२. प्रवचन सारोद्धार गाथा, १०३, पत्र २४
३. वही, १०४ वृत्ति, पत्र २५
४. वही, १०३, वृत्ति पत्र २५

इस का मूल स्पर्शी अर्थ होना चाहिए भगवान् पार्श्व की परम्परा में स्थित। भगवान् पार्श्व भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्ववर्ती हैं। भगवान् महावीर तक उन की परम्परा प्रचलित थी। भगवान् महावीर के माता-पिता उन्हीं के अनु-यायी थे। भगवान् महावीर ने तीर्थ की स्थापना की, चौबीसवें तीर्थंकर हुए। उस के पश्चात् भगवान् पार्श्व के अनेक शिष्य भगवान् महावीर के पास आये और उन के तीर्थ में प्रव्रजित हो गये। अनेक साधु प्रव्रजित नहीं भी हुए। हमारा ऐसा अनुमान है कि भगवान् पार्श्व के जो शिष्य भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित नहीं हुए, उन्हीं के लिए 'पार्श्वस्थ' शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् पार्श्व की समाचारी भगवान् महावीर की समाचारी से भिन्न थी।

भगवान् पार्श्व का विधान[1]	भगवान् महावीर का विधान
१. चातुर्याम	१. पाँच महाव्रत, छठा रात्री भोजन विरमण व्रत।
२. सचेलक या अचेलक	२. अचेलक।
३. एक साधु के लिए बने आहार का दूसरे द्वारा ग्रहण।	३. एक साधु के लिए बने आहार का दूसरे द्वारा वर्जन।
४. दोष होने पर प्रतिक्रमण।	४. नियमित प्रतिक्रमण।
५. राज-पिण्ड का ग्रहण।	५. राज-पिण्ड का वर्जन।
६. मास-कल्प का अनियम। दोष न होने पर जीवन भर एक गाँव में रहने का विधान। कीचड़ और जीवजन्तु न हों उस स्थिति में वर्षा-काल में भी विहार का विधान।	६. मास-कल्प का नियम। एक स्थान में एक मास से अधिक न रहने का विधान।
७. पर्युषण-कल्प का अनियम।	७. पर्युषण-कल्प का नियम। जघन्यतः भाद्र शुक्ला पंचमी से कार्तिक शुक्ला पंचमी तक और उत्कृष्टतः आषाढ़ी पूर्णिमा से कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक एक स्थान में रहने का नियम।

१. प्रवचन सारोद्धार गाथा, ६५६-६८

उक्त समाचारी भेद से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के आचार की अपेक्षा भगवान् पार्श्व का आचार मृदु था। जब तक भगवान् महावीर या सुधर्मा आदि शक्तिशाली आचार्य थे तब तक दोनों परम्पराओं में सामंजस्य बना रहा। एक बार भगवान् महावीर के सामने गौतम ने आ कर कहा—"भन्ते! पार्श्वापत्यीय स्थविरों ने इस का यह उत्तर दिया है। अहो भन्ते! क्या यह ठीक है?" भगवान् ने कहा—"मुझ से कोई पूछता तो मैं भी इस का यही उत्तर देता[1]।" इस प्रकार सामंजस्य का भाव रहा। किन्तु समय के प्रवाह में जब सामंजस्य स्थापित करने वाले शक्तिशाली आचार्य नहीं रहे तब पार्श्वनाथ के शिष्यों के प्रति महावीर के शिष्यों में हीन भावना जागने लगी, क्योंकि वे जिस समाचारी का पालन करते थे, वह भगवान् पार्श्व के शिष्यों की समाचारी से उत्कृष्ट थी। क्रमशः यह भावना इतनी बढ़ी कि पार्श्वस्थ शब्द शिथिल आचारी के अर्थ में रूढ़ हो गया। आगे चल कर उस की मूल भावना भी विस्मृत हो गयी। पार्श्वस्थ शब्द की व्याख्या पर हम ध्यान दें तो यह अनुमान स्वयं प्रमाणित हो जाता है।

जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पार्श्व-तट पर स्थित होता है, उसे सर्वतः पार्श्वस्थ कहा जाता है और जो शय्यातर-पिण्ड, अभिहृत-पिण्ड, राज-पिण्ड, नित्य-पिण्ड, अग्र-पिण्ड का विशेष आलम्बन के बिना सेवन करता है, वह देशतः पार्श्वस्थ कहलाता है[2]। पार्श्वस्थ की पहली व्याख्या का सम्बन्ध शायद नियतिवादी आजीवक सम्प्रदाय से है और दूसरी स्वयूथिक जैन निर्ग्रन्थों से। दर्शन-सार (१७६) में मस्करी को भगवान् पार्श्व के तीर्थ में उत्पन्न माना गया है। पार्श्वस्थों को स्वयूथिक भी कहा गया है[3]। वृत्तिकार के अनुसार पार्श्वस्थ मुनि उद्गम आदि अशुद्ध आहार भोगते थे। शय्यातर-पिण्ड भगवान् पार्श्व की परम्परा में भी निषिद्ध था[4]। किन्तु पार्श्वस्थ की व्याख्या देखने पर यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होती कि वे निषिद्ध आहार का भोग

---

१. भगवती, २।५।

२. प्रवचन-सारोद्धार, गाथा १०४, १०५।

३. (क) 'पार्श्वस्थादयो वा स्वयूथ्याः'—सूत्रकृतांग १।७२, वृत्तिपत्र १५२।
   (ख) 'ये च स्वयूथ्याः पार्श्वस्थादयः उद्गमाद्यशुद्ध-आहारं भुंजते तेऽपि कुशीलाः'—वही, वृत्तिपत्र १५।

४. प्रवचन-सारोद्धार, गाथा ६५०।

करने लगे थे। देशतः पार्श्वस्थ की व्याख्या में जो बातें बतलायी हैं, वे प्रायः आहार ग्रहण से सम्बन्धित हैं। इन के सिवा निर्ग्रन्थ और देशतः पार्श्वस्थ की व्याख्या में कोई मौलिक भेद प्राप्त नहीं है। इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ भगवान् पार्श्व की परम्परा के शिष्यों, जो भगवान् महावीर की परम्परा में सम्मिलित नहीं हुए, को पार्श्वस्थ कहते थे और वे भगवान् महावीर के शिष्यों की अपेक्षा कुछ नियमों से मुक्त थे और सम्भव है आगे चल कुछ अधिक मुक्त हो गये, इस लिए पार्श्वस्थ शब्द शिथिलाचारी के अर्थ में रूढ़ हो गया।

■

अप्रावृत और प्रतिसंलीनता

दशवैकालिक में मुनि की ऋतु-चर्या का बखान करते हुए बताया गया है कि वे ग्रीष्म ऋतु में आतप-सेवन करते हैं, हेमन्त ऋतु में अप्रावृत और वर्षा ऋतु में प्रतिसंलीन रहते हैं[1]। इन में आतप-सेवन का अर्थ सूर्य का ताप सहन करना है। अग्नि का सेवन मुनि के लिए निषिद्ध है,[2] इस लिए आतप-सेवन का अर्थ सूर्य के ताप को सहना ही हो सकता है। अप्रावृत और प्रतिसंलीनता की परम्परा यहाँ मीमांसनीय है।

अप्रावृत

अगस्त्यसिंह स्थविर ने अप्रावृत का अर्थ निवात-गृह किया है[3]। आचार्य हरिभद्र ने इस का अर्थ प्रावरण रहित किया है[4]। किन्तु आचारांग और भाव-प्राभृत के सन्दर्भ में इस पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि अप्रावृत का अर्थ वस्त्र-रहित नहीं, खुले गृह में स्थित होना चाहिए। भगवान् महावीर शिशिर ऋतु में अधोविकट (चारों दीवारों से रहित केवल ऊपर से आच्छन्न अर्थात् अप्रावृत) स्थान में स्थित हो कर ध्यान करते थे[5]। एक-दूसरे प्रसंग में बताया गया है कि वे शिशिर ऋतु में छाया में ध्यान करते थे[6]।

---

१. दशवैकालिक, ३।१२

२. वही, ६।३४

३. दसवेआलियं, भाग २, पृष्ठ १०३

४. वही, भाग २, पृष्ठ १०३

५. 'तंसि भगवं अपडिन्ने, अहे वियडे अहीयासए दविए
निक्खम्म एगया राओ, चाएइ भगवं समियाए ॥'
—आचारांग, १।६।२।१५

६. 'सिसिरंमि एगया भगवं, छायाए झाइ आसीय।'—आचारांग, १।६।४।३

आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि मुनि शीतकाल में बाहर शयन करे[1]। वृत्तिकार श्रुत सागर सूरी ने इस का अर्थ अनावृत स्थान में स्थित किया है[2]। सम्भव यह है कि वस्त्रों का व्यवहार जब कम था, तब तक अप्रावृत का अर्थ खुला स्थान रहा होगा और जब वस्त्रों का व्यवहार अधिक हो गया तब उस (अप्रावृत) का अर्थ वस्त्र-रहित हो गया।

मुनि की ऋतु-चर्या का उल्लेख महाभारत व स्मृति-ग्रन्थों में भी मिलता है। महाभारत में हेमन्त ऋतु में जल में रहने का विधान है[3]। मनुस्मृति तथा याज्ञ-वल्क्य स्मृति में भी वस्त्र रखने का विधान है[4]।

अप्रावृत, जल-संश्रय और आर्द्र-वासा—यह अन्तर परम्परा-भेद के कारण हुआ है। जैन-परम्परा में जल-स्पर्श का निषेध था, इस लिए हेमन्त ऋतु में अप्रावृत रहने का विधान किया गया है।

प्रतिसंलीनता

अगस्त्यसिंह स्थविर, जिनदास महत्तर और हरिभद्र सूरि के अनुसार प्रति-संलीनता का अर्थ है—निवात-गृह या एक आश्रय में स्थित रहना[5]। यह विधान

---

१. भावप्राभृत, १११

२. वही, १११ वृत्ति—

३. 'अभ्रावकाशा वर्षासु हेमन्ते जलसंश्रयाः।
ग्रीष्मे च पंचतपसः शश्वच्च मितभोजनाः॥'
—महाभारत, शान्तिपर्व, २४४।१०

४. (क) 'ग्रीष्मे पंचतपास्तु स्याद्, वर्षास्वभ्रावकाशिकः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयंस्तपः॥'
—मनुस्मृति, ६।२३

(ख) 'ग्रीष्मे पंचाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, शक्त्या वापि तपश्चरेत्॥'
—याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, ५२०

५. (क) 'सदाइंदियनोइंदियपरिसमल्लीणा विसेसेण सिणेहसंघट्टपरिहरणत्थं।
णिवातलतणगता वासासु पडिसंलीणा गामाणुगामं दूतिज्जंति॥'
—अगस्त्यचूर्णि, ३।१२

(ख) 'वासासु पडिसंलीणा नाम आश्रयस्थिता इत्यर्थः, तवविसेसेसु उज्जमंती, नो गामनग-राइसु विहरंति।' —जिनदास चूर्णि, पृष्ठ ११६

(ग) 'वर्षाकालेषु संलीना' इत्येकाश्रयस्था भवन्ति।' —हारिभद्रीय टीका, पत्र ११६

वर्षा जल के स्पर्श से बचने के लिए किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने वर्षा-काल में तरुमूल में रहने का विधान किया है[1]।

श्रुतसागर सूरि ने इस की व्याख्या में लिखा है—मुनि वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे रहे। वृक्ष के पत्तों पर गिर कर जो जल नीचे गिरता है, वह प्रासुक (निर्जीव) हो जाता है। इस लिए मुनि जल के जीवों की विराधना नहीं करता। वृक्ष के नीचे रहने से वर्षा जनित कष्ट भी होता है। इस लिए मुनि को वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे रहना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो उस से उस की कायरता प्रकट होती है[2]। महाभारत[3] और मनुस्मृति[4] में संन्यासी के लिए वर्षाकाल में अभ्रावकाश (खुले आकाश) में रहने का विधान किया है और याज्ञवल्क्य[5] स्मृति में स्थण्डिलेशय (मैदान) में रहने का विधान है।

इस चर्या में भी व्यवस्थाओं का हेतु सिद्धान्त-भेद है। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में तरु-मूल और प्रतिसंलीन रहने का भेद बहुत आश्चर्यजनक है। उद्यान आदि में चातुर्मास बिताने वाले मुनि सम्भवत: वृक्षों के नीचे ही रहते थे। जब मकानों में रहने का अधिक प्रचलन हो गया तब प्रतिसंलीन रहने को मुख्यता दी गयी। अगस्त्यसिंह की व्याख्या में निवात-लयन में रहने का उल्लेख है। लयन शब्द सामान्य घर का वाचक नहीं है। वह पहाड़ों को कुरेद कर बनाये गये घर के अर्थ में है। जिनदास और हरिभद्र ने आश्रय शब्द का प्रयोग किया है। वह सामान्य घर भी हो सकता है। इस प्रकार युग-परिवर्तन के साथ-साथ तरुमूल, निवात-लयन और आश्रय का भेद हुआ है।

इस सांवत्सरिक-चर्या का जैन परम्परा में प्राचीन उल्लेख भगवान् महावीर के जीवन-प्रसंग में मिलता है[6]। इस प्रसंग में वर्षा ऋतु की चर्या का उल्लेख नहीं है। दशवैकालिक में तीनों ऋतुओं की चर्या का उल्लेख है। महाभारत

---

१. भावप्राभृत १११

२. भावप्राभृत, १११ वृत्ति—

३. महाभारत, शान्तिपर्व. २४४।१०

४. मनुस्मृति, ६।२३

५. याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, ५२

६. आचारांग १।६।२।१३,१४,१५; १।६।४।३,४

और स्मृति-ग्रन्थों में भी वार्षिक-चर्या का उल्लेख है। यह उस समय की स्थिति का प्रभाव था। किसी भी सम्प्रदाय का मुनि बहुजन सम्मत चर्या को अपनाये बिना कैसे रह सकता था? अपनाने का प्रकार अपने ढंग का होता और अपनाने के साथ-साथ उसे अपने सिद्धान्तों के अनुसार ढाल लिया जाता। ऋतु-चर्या का प्रकरण इसी सत्य का साक्ष्य है।

■

जैन-साहित्य में सूक्तियाँ

सूक्ति अनुभूति की चलनी में से छना हुआ वह सार है, जिस में फेंकने का कुछ भी नहीं होता। विस्तार में शक्ति क्षीण होती है—इस सत्य के आलोक में मनुष्य ने अपनी अनुभूतियों को घनीभूत किया और उन्हें सूक्ति की संज्ञा मिली। सीमित शब्द और असीम अर्थ—यह उस की अपनी विशेषता है। वृक्ष के विपुल विस्तार में जो स्थान पुष्प का है वही स्थान साहित्य के विशद संस्थान में सूक्ति का है।

सूक्ति विश्व-साहित्य की बहुमूल्य निधि है। उस के चयन और संचयन से निश्चय ही मन पुलक से भर उठता है पर उतनी लम्बी छलांग भरना बहुत बड़ी कल्पना है। बड़ी कल्पना के लिए बड़ी सज्जा चाहिए। पर बीसवीं शताब्दी के व्यस्त जीवन में उतनी सज्जा कहाँ सुलभ है? मुझे समय और शक्ति दोनों का ध्यान है। इस लिए आज केवल जैन-साहित्य के उपवन में ले चलूँगा। वह भी बहुत विशाल है। चलो उसी के कुछेक कक्षों की परिक्रमा ही सही। परिमल के संग बीतने वाले कुछेक पल भी जीवन में स्वर्गीय आनन्द भर देते हैं।

जैन-साहित्य प्राकृत (अर्ध-मागधी, शौरसेनी, अपभ्रंश), संस्कृत तथा देशी भाषाओं—मराठी, गुजराती, राजस्थानी, ब्रज, तमिल, कन्नड आदि में लिखा गया है। ढाई हज़ार वर्ष के दीर्घकाल में अनेक विधाओं का उस ने स्पर्श किया है। उन में सर्व प्राचीन आगम हैं। उन के पश्चात् निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, वार्तिक, प्राभृत आदि लिखे गये। पुराण और काव्य की अनेक धाराओं में भी जैन कवि गतिशील रहे हैं। समय और मात्रा दोनों दृष्टियों से विशालतम साहित्य सागर का मध्यावगाहन सम्भव नहीं है। सम्भव यही है कि उस के तट पर खड़े हो हम उस का स्पर्श कर लें।

१. उट्ठिए नो पमायए (आचारांग, १।५।२)

—उठो, प्रमाद मत करो ।

२. खणं जाणाहि पंडिए (आचारांग, १।२।१।●१)

—समय का मूल्य आंको ।

३. णो हू वणमंति राइओ (सूत्रकृतांग, १।२।१)

—बीती हुई रात लौट कर नहीं आती ।

४. अप्पणा सच्च मेसिज्जा (उत्तराध्ययन, ६।२)

—सत्य की खोज करो ।

५. सच्चं लोगम्मि सार भूयं (प्रश्नव्याकरण, २।१।२४)

—सत्य ही लोक में सार है ।

६. सच्चम्मि धिइं कुव्वहा (आचारांग, १।३।२।११३)

—सत्य में अटल रहो ।

७. वितिगिच्छ समावन्नेणं अप्पाणेकं णो लहइ समाहिं (आचारांग, १।५।५)

—सन्देहशील मनुष्य को समाधान नहीं मिलता ।

८. तुमंसि नाम तं चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि (आचारांग, १।५।५)

—जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है ।

९. सव्वेसिं जीवियं पियं (आचारांग, १।२।३।७)

—सब को जीवन प्रिय है ।

१०. मेत्तिं भूएसु कप्पए

—सब के साथ मैत्री करो ।

११. न विरुज्झेज्ज केणई (सूत्रकृतांग, १।१३।१५)

—किसी से वैर मत करो ।

१२. उद्देसो पासगस्स नत्थि (आचारांग, १।२।३)

—जो देखता है, उस के लिए उपदेश की क्या आवश्यकता है ।

१३. मा अप्पेणं लुंपहा बहुं (सूत्रकृतांग, १।३।४।७)

—थोड़े के लिए बहुत को मत गँवाओ ।

१४. कडेण मूढ़ो पुणो तं करेइ (आचारांग, १।२।५)

—बुराई को वह दोहराता है जो एक बार बुराई कर चुका ।

१५. सयं कडं नन्नकडं च दुक्खं (सूत्रकृतांग, १।१२।११)

—जो दुःख है वह अपना किया हुआ है।

१६. एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे परिमोयए (आचारांग, १।३।५)

—वीर वही है, जो गुलाम को आज़ाद करे।

१७. से केयणं अरिहइ पूरित्तए (आचारांग, १।३।२)

—आदमी चलनी को भरना चाहता है।

१८. जेण सिया तेण णो सिया (आचारांग, १।२।४)

—जिस से हो सकता है, उस से नहीं भी हो सकता।

१९. नत्थि कालस्स णागमो (आचारांग, १।२।३)

—मौत के लिए कोई अकाल नहीं है।

२०. णो हव्वाए णो पाराए (आचारांग, १।२।२)

—न घर का न घाट का।

२१. सुत्ता अमुणिणो मुणिणो सया जागरंति (आचारांग, १।३।१।१०६)

—असंयमी जाग कर भी सोते हैं और संयमी सो कर भी जागते हैं।

२२. मा य हु लालं पच्चासि (आचारांग, १।२।५)

—लार को मत चूसो।

२३. तुमं चेव तं सल्ल माहट्टु (आचारांग, १।२।४।८५)

—यह घाव स्वयं तू ने ही किया है।

२४. नाति कंडूइयं सेयं (सूत्रकृतांग, १।३।३।१६]

—घाव को ज्यादा खुजलाना अच्छा नहीं।

२५. तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं (सूत्रकृतांग, २।६।२३)

—ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम है।

२६. एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं (सूत्रकृतांग, १।१।४।१०)

—किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना, यही ज्ञान का सार है।

२७. अत्थि सत्थं परेण परं (आचारांग, १।३।४)

—जहाँ शस्त्र है वहाँ स्पर्धा है।

२८. णत्थि असत्थं परेण परं (आचारांग, १।३।४)

—अहिंसा स्पर्धा से परे है।

२९. अन्नाणी किं काही, किं वा नाहिइ छेय पावगं (दशवैकालिक, ४।१०)

—अज्ञानी क्या करेगा, जो श्रेय और पाप को भी नहीं जानता।

३०. पढमं नाणं तओ दया (दशवैकालिक, ४।१०)

—पहले जानो फिर करो।

३१. कोहं असच्चं कुव्विज्जा (उत्तराध्ययन, १।१४)

—क्रोध को विफल करो।

३२. ना पुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए (उत्तराध्ययन, १।१४)

—बिना पूछे मत बोलो और पूछने पर झूठ मत बोलो।

३३. कम्मसच्चा हु पाणिणो (उत्तराध्ययन, ७।२०)

—किया हुआ कर्म कभी विफल नहीं होता।

३४. सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणां (उत्तराध्ययन, १३।१०)

—मनुष्य का कोई भी सत् प्रयत्न विफल नहीं होता।

३५. आयाणहेउं अभिणिक्खमाहि (उत्तराध्ययन, १३।२०)

—मुक्ति के लिए अभिनिष्क्रमण करो।

३६. कत्तार मेवं अणुजाइ कम्मं (उत्तराध्ययन, १३।२३)

—कर्म कर्ता के पीछे दौड़ता है।

३७. इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचि वि दुक्करं (उत्तराध्ययन, १९।१४)

—उस के लिए कुछ भी दुःसाध्य नहीं है जिस की प्यास बुझ चुकी।

३८. न तं अरी कंठछेत्ता करेइ जं से करे अप्पणिया दुरप्पा

(उत्तराध्ययन, २०।४८)

—कण्ठ छेदने वाला शत्रु वैसा अनर्थ नहीं करता जैसा बिगड़ा हुआ आत्मा करता है।

३९. नेहपासा भयंकरा (उत्तराध्ययन, २३।४३)

—स्नेह का बन्धन बड़ा भयंकर होता है।

४०. न तं तायन्ति दुस्सीलं (उत्तराध्ययन, २५।२८)

—दुराचारी को कोई नहीं बचा सकता।

४१. काले कालं समायरे (दशवैकालिक, ५।२।४)

—हर काम ठीक समय पर करो।

४२. वच्चं मुत्तं न धारए (दशवैकालिक, ५।१।१९)

—मल-मूत्र का वेग मत रोको।

४३. न य भोयणम्मि गिद्धे (दशवैकालिक, ८।२३)

—जिह्वा-लोलुप मत बनो।

४४. ण य रुवेसु मणं करे (दशवैकालिक, ८।१९)

—रूप में झंपा मत लो।

४५. सुयलाभे न मज्जेज्जा (दशवैकालिक, ८।३०)

—ज्ञान का गर्व मत करो।

४६. अणायारं परक्कम्म, नेव गूहे न निण्हवे (दशवैकालिक, ८।३२)

—अपने पाप को मत छिपाओ।

४७. निद्दं च न बहुमन्नेज्जा (दशवैकालिक, ८।४१)

—नींद को बहुमान मत दो।

४८ बहुस्सुयं पज्जुवासेज्जा (दशवैकालिक ८।४३)

—बहुश्रुत की उपासना करो।

४९. अपुच्छिओ न भासेज्जा, भासमाणस्स अंतरा (दशवैकालिक, ८।४६)

—बिना पूछे मत बोलो, बीच में मत बोलो।

५०. पिट्ठिमंसं न खाएज्जा (दशवैकालिक, ८।४६)

—चुगली मत करो।

५१. वक्ककरे स पुज्जो (दशवैकालिक, ९।३।३)

—अनुशासन मानने वाला ही पूज्य होता है।

५२. अत्ताणं न समुक्कसे (दशवैकालिक, १०।१८)

—अहंकार मत करो।

५३. चएज्ज देहं न उ धम्मसासणं (दशवैकालिक चूलिका, १।१७)

—शरीर को छोड़ दो पर धर्म को मत छोड़ो।

५४. असंकिलिट्ठेहिं समं वसेज्जा (दशवैकालिक चूलिका, २।९)

—क्लेश न करने वालों के साथ रहो।

५५. संपिक्खए अप्पगमप्पएण (दशवैकालिक चूलिका, २।१२)

—आत्मा से आत्मा को देखो।

५६. सेयंबरो य आसंबरो य, बुद्धो य अहव अन्नो वा।
सममाव भावि अप्पा, लहेइ मोक्खं न संदेहो ॥ (सम्बोध सत्तरी, २)
—श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई। जो समभावी है, वह मोक्ष पा लेता है।

५७. एहु धम्मु जो आचरइ, बंभणु सुद्दुवि कोइ।
सो सावउ किं सावयहं, अण्णु कि सिरि मणि होइ।
(सावयधम्म, दोहा ७६)
—ब्राह्मण या शूद्र कोई भी हो, जो समता-धर्म का आचरण करता है वही श्रावक है। श्रावक के सिर में कोई मणि थोड़े ही होता है?

५८. रत्ता पिच्छंति गुणा, दोसा पिच्छंति जे विरज्जंति।
मज्झत्था पुण पुरिसा, दोसे वि गुणे वि पिच्छंति ॥
—रागी मनुष्य केवल गुण देखता है, दोषी मनुष्य केवल दोष देखता है, मध्यस्थ मनुष्य गुण भी देखता है और दोष भी देखता है।

५९. आणा जुत्तो संघो, सेसो पुण अट्ठिसंघाओ (गच्छाचार)
—जो अनुशासनबद्ध है वह संघ है। जिस समूह में अनुशासन नहीं वह हड्डियों का ढांचा है।

६०. तिमिर हरा जइ दिट्ठि, जणस्स दीवेण णत्थि काइव्वं।
तध सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥ (प्रवचनसार, ६७)
—दृष्टि यदि तम को हरने वाली है तो दीपक से क्या? आत्मा स्वयं सुखमय है फिर विषयों से क्या?

६१. सुहिओ न चयइ मोए, चयइ जहा दुक्खिओत्ति अलिय मिणं।
चिक्कणकम्मो लित्तो, न इमो न इमो परिच्चयइ। (उपदेशमाला, १७२)
—सुखी भोग नहीं छोड़ता। दुःखी भोग छोड़ता है, यह झूठी बात है। मोह से मूढ़ आदमी भोग नहीं छोड़ता, सुखी हो या दुःखी।

६२. सव्वओ वि नईओ, कमेण जह सायरम्मि निवडंति।
तह भगवई अहिंसं, सव्वे धम्मा सम्मिलंति (सम्बोध सत्तरी ६)
—सारी नदियां अन्ततः सागर में लीन होती हैं, वैसे ही सारे धर्म अहिंसा में लीन होते हैं।

६३. को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु अछोपु करिवि को वंचउ ।
हलसहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ
(योगसार, ४०)
—किस की समाधि करूँ ? किस की अर्चना करूँ ? स्पृश्य और अस्पृश्य मान कर किस का परित्याग करूँ ? किस से मित्रता करूँ और किस से शत्रुता करूँ ? जहाँ कहीं देखता हूँ वहाँ आत्मा ही आत्मा दिखाई देता है ।

६४. वरि हलिओ विहु अत्ता अनन्नभज्जो गुणेहि रहिओ वि ।
मा सगुणो बहुभज्जो जइराया चक्कवट्टीवि ।। (णाणपंचमी कहा)
—अनेक पत्नी वाले सर्वगुण सम्पन्न चक्रवर्ती राजा की अपेक्षा गुण-विहीन एक पत्नी वाला किसान कहीं श्रेष्ठ है ।

६५. मरइ गुडेणं चिय तस्स विसं दिज्जए किं व (णाणपंचमी कहा)
—जो गुड़ देने से मर सकता है उसे विष देने की क्या आवश्यकता है ?

६६. न हु पहि पक्का बोरी छुट्टइ लोयाण जा खज्जा (णाणपंचमी कहा)
—यदि रास्ते में पके हुए बेर दिखाई दें तो उन्हें कौन छोड़ देगा ?

६७. हत्थट्ठियं कंकणयं को मण जोएहं आरिसए (णाणपंचमी कहा)
—हाथ कंगन को आरसी क्या ?

६८. आसा रक्खई जीयं सुट्ठु वि दुहियाण सत्थ संसारे । (णाणपंचमी कहा)
होइ निरासण जओ तक्खणमित्तेण मरणं पि ।।
—आशा ही दुःख में सहारा है, निराश आदमी मर जाता है ।

६९. सोरब्भ गुणेण छेय-घरिसणाइणि चंदणं लहइ ।
राग-गुणेणं पावइ खंडण-कढणाइं मंजिट्ठा ।। (कुमारपाल प्रतिबोध)
—देखिए, सुगन्धि के कारण लोग चन्दन को काट कर घिसते हैं और रंग के कारण मजीठ के टुकड़े कर पानी में उबालते हैं ।

७०. किं पढिएणं ? बुद्धीए किं ? व किं तस्स गुण समूहेण ?
जो पियरविढत्तधणं भुंजइ अज्जणसमत्थो वि ।। (प्राकृत कथा संग्रह)
—पढ़ने से क्या लाभ ? बुद्धि से क्या प्रयोजन ? गुणों से क्या तात्पर्य ? यदि कोई धनोपार्जन में समर्थ होते हुए भी अपने पिता के द्वारा अर्जित धन का उपभोग करता है ।

७१. न हि गेहम्मि पलित्ते अवडं खणिउं तरइ कोइ (भव भावना)

—घर में आग लगने पर क्या कोई कुँआ खोद सकता है ?

७२. पुरातनैर्या नियता व्यवस्थिति-
स्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
तथेति वक्तुं मृतरूढ़गौरवा-
दहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः ।। (द्वात्रिंशिका-सिद्धसेन दिवाकर)

—पुराने लोगों ने जो व्यवस्था की है वह वैसे ही ठीक है। उस के बारे में क्या सोचना है—इस प्रकार मृत गौरव के गीत में अपना स्वर मिलाने के लिए मैं नहीं जन्मा हूँ। मेरे शत्रु बढ़ते हैं तो भले बढ़ें।

७३. आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा ।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

—आग्रही व्यक्ति वहाँ युक्ति खोजता है, जहाँ उस की बुद्धि रमी हुई है। तटस्थ व्यक्ति की बुद्धि वहाँ रमण करती है, जहाँ युक्ति है।

७४. ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसंगजातमत्सरयोः ।
स्यात् सख्यमपि शुनोर्भ्रात्रोरपि वादिनोर्न स्यात् ।।
(वादद्वात्रिंशिका)

—भिन्न-भिन्न गाँवों से आये तथा एक मांस के टुकड़े के लिए परस्पर झगड़ते कुत्तों में सौहार्द होना सम्भव है पर वाद में लगे हुए सगे भाइयों में सौहार्द होना सम्भव नहीं।

७५. भरे यथा रोहति भूरिरावा,
निरस्यमाने रवणास्तथासन् ।
सदैव सर्वांगबहिर्मुखानां,
हिताहितज्ञानपराङ्मुखत्वम् ।। (पद्मानन्द महाकाव्य, १७।१३३)

—ऊँट पर भार लदता है तब वह आक्रन्द करता है और भार उतरता है तब भी वह आक्रन्द करता है। जिस का मुँह सब अंगों से बाहर होता है उसे हित या अहित का भान नहीं होता।

७६. नहि अर्धं कुक्कुट्याः पच्यते अर्धं प्रसवाय कल्पते (विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति, पत्र ३७०)

—यह नहीं हो सकता कि मुर्गी का आधा भाग पका लें और आधा अण्डे देने के लिए छोड़ दें ।

७७. पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

—महावीर के प्रति मेरा पक्षपात नहीं है, कपिल आदि के प्रति मेरा द्वेष नहीं है, जिस का वचन युक्ति-युक्त है, उस का ग्रहण किया जाये ।

७८. भवतात् तटिनीश्वरोन्तरा, विषमोऽस्तु क्षितिभृच्चयोन्तरा ।
सरिदस्तु जलाधिकान्तरा, पिशुनो मास्तु किलान्तरावयोः ॥

(भरत बाहुबलिमहाकाव्य)

—हमारे बीच में समुद्र, पहाड़ और जल से परिपूर्ण नदियाँ भले हों पर कोई चुगल न हो ।

७९. नाश्वो न च खरः किन्तूभयान् शोऽश्वतरः । (त्रिषष्टिशलाका पुरुष-चरित्र)

—यह न घोड़ा है और न गधा, किन्तु खच्चर है ।

८०. कोपः प्रणामान्त इहोत्तमानाम् (भरत बाहुबलि काव्य)

—उत्तम व्यक्ति का क्रोध प्रणाम करने पर शान्त हो जाता है ।

८१. सिंहस्येव केवलं पौरुषावलम्बिनः न चिरं कुशलम् । (नीतिवाक्यामृत, ५।२६)

—जो कोरे पराक्रम में भरोसा करता है उस का भविष्य सुरक्षित नहीं है ।

८२. विश्वस्तैः सह व्यवहारः वणिजां निधिः (नीतिवाक्यामृत, ७।४१)

—विश्वस्त व्यक्तियों के साथ व्यवहार करना व्यापारी के लिए निधि है ।

८३. अप्रियमौषधं पीयते (नीतिवाक्यामृत ८ २५)

—औषध की कड़वी घूँट भी पी जाती है ।

८४. अहिदष्टस्वांगुलिरपि छिद्यते ।

साँप-काटी हुई अपनी उँगली भी काटी जाती है ।

८५. **स्वामिनोऽधिष्ठितो मेषोऽपि सिंहायते** (नीतिवाक्यामृत, १०।४८)

—स्वामी-द्वारा अधिष्ठित मेढ़ा भी सिंह बन जाता है।

८६. **कालातिक्रमात् नखच्छेद्यमपि कार्यं भवति कुठारच्छेद्यमच्छेद्यं वा।** (नीतिवाक्यामृत, १०।६४)

—काल का अतिक्रमण करने से नख-च्छेद्यकार्य कुठारच्छेद्य बन जाता है या अच्छेद्य हो जाता है।

८७. **खादनवेलायां कः कस्य न सहायः?** (नीतिवाक्यामृत, १०।८६)

—खाने के समय कौन किस का सहायक नहीं होता?

८८. **स्थाल्येव चेद् भक्तमश्नाति ततः कुतो भोक्तुर्भुक्तिः?** (नीतिवाक्यामृत, १०।१०६)

—थाली ही यदि भोजन को खा जाये तो खाने वाला क्या खाये?

८९. **परस्मै मर्मकथनम् आत्मविक्रय एव** (नीतिवाक्यामृत, १०।१३७)

—दूसरे को मर्म कहना अपने-आप को बेचना है।

९०. **नाल्पं महद्वा कार्यमुपायज्ञस्य** (नीतिवाक्यामृत, १०।१५०)

—जो उपाय जानता है उस के लिए यह प्रश्न नहीं होता कि काम छोटा है या बड़ा।

९१. **यस्य हस्ते द्रव्यं स जयति** (नीतिवाक्यामृत, २१।४)

—जिस के हाथ में धन है वह जीतता है।

९२. **को नाम सुचेताः स्वगुडं चौर्यात् खादेत्?** (नीतिवाक्यामृत, २२।२३)

—ऐसा कौन होगा, जो अपने गुड़ को चोरी से खाये?

९३. **तत् किं सौजन्यं? यत्र परोक्षे पिशुनभावः।** (नीतिवाक्यामृत, २७।२०)

—वह क्या सौजन्य है जहाँ परोक्ष में चुगली हो।

९४. **न दारिद्र्यात् परं लाघवकारणमस्ति** (नीतिवाक्यामृत, २७।४८)

—दरिद्रता से बढ़ कर कोई लघुता का हेतु नहीं है।

■

बृहत्तर भारत के दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध की विभाजक रेखा—'वेयड्ढ पर्वत'

किसी समय मेरी ऐसी धारणा थी और आज भी अनेक जैन लोगों की है कि आगमोक्त 'भरतवर्ष' उपलब्ध भूखण्ड से बहुत बड़ा है। उसे दो भागों में विभक्त करने वाला वैताढ्य पर्वत वर्तमान दुनिया मे प्राप्त नहीं है। अविभक्त हिन्दुस्तान (ई० स० १९४६ तक का हिन्दुस्तान) भरतवर्ष के छह खण्डों में से एक खण्ड है, जिस का नाम है 'आर्य-खण्ड'।

एक दिन मैं विविध तीर्थकल्प (वि० १४ शतक) पढ़ रहा था। उस में सम्राट् सम्प्रति (ई० पू० २३२ से १९०) का एक विशेषण मिला—"त्रिखण्ड-भरताधिप:'—तद्वंशे तु बिन्दुसारोऽशोकश्री: कुणालस्तत्सूनुस्त्रिखण्डभरताधिप: परमार्हतोऽनार्यदेशेष्वपि प्रवर्तितश्रमणविहार: सम्प्रति महाराजश्चाभवत्[1]।" मेरे मन में एक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और मैं ने इस विषय के अनेक ग्रन्थ पढ़े तो इस अभिमत का समर्थन मिला।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार सम्राट् सम्प्रति ने अर्ध-भरत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था—"क्रमेण साधयामास, भरतार्धं सदक्षिणम्" (परिशिष्ट पर्व ९।५४)। अर्धभरत का अर्थ होता है तीन खण्ड। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार भरतवर्ष के दो विभाग हैं—दक्षिण भरत और उत्तर भरत। इन का विभाग 'वेयड्ढ पर्वत' के द्वारा होता है[2]। इन दोनों में तीन-तीन खण्ड हैं[3]। सम्राट् सम्प्रति ने दक्षिण भरत के तीन खण्डों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था।

---

१. विविध तीर्थकल्प, पृ० ६९
२. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, १।११
३. वही, १।११

आचार्य हेमचन्द्र ने यह लिख कर—"सम्राट् सम्प्रति के वैताढ्य तक त्रिखण्डभरतवर्ष को जिनायतनों से मण्डित कर दिया"—उस के त्रिखण्डाधिपति होने की दोहरी पुष्टि की है—

"आवैताढ्यं प्रतापाढ्य स चकाराविकारधीः।
त्रिखण्डं भरतक्षेत्रं जिनायतनमण्डितम् ॥"
(परिशिष्ट पर्व, ११।६५)

इन सन्दर्भों के अध्ययन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि मध्यकालीन जैन आचार्यों की दृष्टि में भरतवर्ष के तीन खण्ड अविभक्त हिन्दुस्तान में रहे हैं। वैताढ्य उस का सीमा पर्वत तथा गंगा और सिन्धु का मध्यवर्ती भाग ही 'आर्यखण्ड' रहा है[1]।

सम्प्रति का राज्य-विस्तार

हिन्दुस्तान में मौर्य साम्राज्य की आधारशिला चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३१७) ने रखी थी। उस ने प्रायः सम्पूर्ण भारत पर शासन किया था। सिकन्दर के सेनापति सिल्युकस ने सम्राट् चन्द्रगुप्त से सन्धि की तब अफ़गानिस्तान और कन्दहार भी उसे समर्पित किया था।

निशीथ भाष्य में मौर्यवंश की समृद्धि की तुलना 'जौ' से की गयी है। चन्द्रगुप्त से बिन्दुसार, बिन्दुसार से अशोकश्री और अशोकश्री से सम्प्रति की राज्य-सीमा अधिक विस्तृत थी। सम्प्रति के पश्चात् राज्य-सीमा कम होने लगी। सम्प्रति को 'जौ' का मध्य माना गया है[2]। बौद्ध साहित्य में अशोक को जम्बूद्वीप का ईश्वर कहा गया है[3]। बौद्धों की भाषा में जम्बूद्वीप का अर्थ भारतवर्ष है[4]। सम्प्रति का राज्य अशोक से कुछ विस्तृत हुआ था, इसी लिए आचार्य हेमचन्द्र ने उस के राज्य-विस्तार की सीमा वैताढ्य तक बतलायी है।

---

१. 'अद्धभरहमज्झिल्लतिभागे गंगसिंधुमज्झम्मि एत्थ बहुमज्झदेसे।'
—आवश्यक निर्युक्ति, पत्र १४८

२. निशीथ भाष्य, गाथा ५७४७

३. विशुद्धिमग्ग दीपिका, भाग २, पृ० ६८

४. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० ५४, फुट नोट १

वेयड्ढ पर्वत

आज वेयड्ढ (वैताढ्य) नाम का कोई पर्वत नहीं है। उस की अवस्थिति तत्सम्बन्धी सांकेतिक विवरणों से ही जानी जा सकती है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में वैताढ्य के लिए 'वेयड्ढ' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस का संस्कृत रूप वैताढ्य किया गया है। किन्तु जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में प्राप्त निरुक्त के सन्दर्भ में वैताढ्य शब्द अर्थ-हीन लगता है।

वेयड्ढ पर्वत भारतवर्ष को दो भागों में विभक्त करता है—दक्षिण भारत और उत्तर भारत—इस लिए उसे वेयड्ढ कहा गया है[1]।

इस में दो शब्द 'वे' और 'अड्ढ'—संस्कृत रूप 'द्वि' और 'अर्ध'—हैं। यह गुण-निष्पन्न नाम है। इस पर्वत का लोक-प्रचलित नाम क्या था, उस की जानकारी प्राप्त नहीं है।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार 'वेयड्ढ' की अवस्थिति उत्तर भरत के दक्षिण में, दक्षिण भरत के उत्तर में, पूर्वी समुद्र के पश्चिम में तथा पश्चिमी समुद्र के पूर्व में है[2]। वह पूर्व-पश्चिम में आयत और उत्तर-दक्षिण में विस्तीर्ण है[3]।

भारत की उत्तरी सीमा हिमालय है। उस की पश्चिमी शृंखला दक्षिण-पश्चिम की ओर चली गयी है। वह भारत की पश्चिमोत्तर सीमा है। उस सीमा के पार अफ़गानिस्तान और बलूचिस्तान है। वह दक्षिण की ओर झुक कर पूर्वोत्तर सीमा बनाता है। उस के पार चीन, हिन्दचीन और श्याम आदि देश हैं।

हिमालय शृंखला का वर्तमान विवरण यह है—"उत्तरी पहाड़ भारत की उत्तरी सीमा में पश्चिम से पूर्व की ओर १५०० मील की लम्बाई में एक तलवार के आकार में फैले हैं। इन की चौड़ाई १५० से २०० मील है। इन की औसत ऊँचाई बीस हज़ार फ़ुट है। ये पर्वत वास्तव में उस विशाल पर्वत-प्रणाली के, जिसे पामीर की गाँठ कहते हैं, भाग हैं, जो मध्य एशिया से मध्य यूरॅप तक फैली हैं। इसी श्रेणी के दक्षिणी-पूर्वी भाग हिमालय पर्वत कहलाते हैं। इन पर्वतों ने भारत को समस्त एशिया से प्रायः बिलकुल अलग कर दिया है।

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति १।१२
२. वही, १।१२
३. वही, १।१२

ये पर्वत कई पर्वत-श्रेणियों से मिल कर बने हैं, जो एक-दूसरे के समानान्तर फैली हुई हैं। मुख्य हिमालय पर्वत तीन पर्वत-श्रेणियों से बने हैं।

१. महा हिमालय

यह सब से उत्तर की श्रेणी है। यह सिन्धु नदी के मोड़ के पास से ब्रह्मपुत्र नदी के मोड़ तक १५०० मील तक एक टेढ़ी रेखा की भाँति फैली हुई है। इस की चौड़ाई १५ मील और औसत ऊँचाई बीस हजार फुट है। केवल इसी पर्वत श्रेणी में चालीस ऐसी ज्ञात चोटियाँ हैं, जिन की ऊँचाई २४ हज़ार फ़ीट और २७३ ऐसी ज्ञात चोटियाँ हैं, जिन की ऊँचाई बीस हज़ार फ़ीट से अधिक है। हमारे देश की सब से ऊँची-ऊँची चोटियाँ इसी भाग में हैं। मुख्य चोटियाँ ये हैं—माउण्ट एवरेस्ट या गौरीशंकर (२९१४१ फ़ीट), नन्दा देवी (२५६६१ फ़ीट), धौलागिरि (२६७९५ फ़ीट), कंचनजंगा (२७८१५ फ़ीट), नंगा पर्वत (२६१८२ फ़ीट) और गोसाईंथान (२६३०५ फ़ीट)। ये सभी चोटियाँ वर्ष में अधिकांश समय बर्फ़ से ढँकी रहती हैं। इस श्रेणी का ढाल सीधा होने के कारण इस में चौड़ी घाटियाँ बहुत कम पायी जाती हैं।

२. लघु हिमालय

यह श्रेणी उत्तर श्रेणी के दक्षिण में उसी के समानान्तर फैली हुई है। यह ५०-६० मील चौड़ी है। इस श्रेणी की औसत ऊँचाई, छह से बारह हज़ार फ़ीट है। भारत के प्रसिद्ध पहाड़ी स्थान—शिमला, मसूरी, नैनीताल, दार्जिलिंग आदि इसी श्रेणी के निचले भागों पर हैं।

३. उप हिमालय

यह पर्वत-श्रेणी उपर्युक्त दोनों श्रेणियों के दक्षिण में है। इस को लघु हिमालय से अलग करने वाली घाटियों को पश्चिम 'दून' (Doon) और पूर्व में 'द्वार' (Duars) कहते हैं। आजकल इस सम्पूर्ण श्रेणी को 'शिवालिक' कहते हैं। इस की चौड़ाई पाँच से तीस मील और औसत ऊंचाई चार हज़ार फ़ीट के लगभग है। बड़े मैदान की भाँति यह श्रेणी भी मिट्टी, बालू और कंकड़ की बनी है।

बाहरी श्रेणियाँ

उत्तर में हिमालय के प्रमुख सिलसिले से तीन समानान्तर श्रेणियाँ कश्मीर से निकलती हैं, उन्हें हिमालय की बाहरी श्रेणियाँ कहा जा सकता है। इन के नाम जाश्कर, लद्दाख और कैलाश हैं। इन में कुछ ऊँची चोटियाँ भी हैं, जिन में जाश्कर पर्वत की कामेत चोटी (२५४४७ फ़ीट) मुख्य है। पामीर के पठार से कराकोरम पर्वत भी निकले हैं। ये अधिक ऊँचे हैं किन्तु लम्बे कम हैं।

हिमालय की श्रेणियाँ

१. पश्चिमी श्रेणियाँ—इन में हिन्दूकुश, सुलेमान और कर्थार आदि शामिल हैं। जो अब पाकिस्तान की पश्चिमी सीमा बनाती हैं।

२. उत्तरी-पूर्वी श्रेणियाँ—ये श्रेणियाँ हिमालय के पूर्वी भाग से निकल कर आसाम में फैली हैं। इन में गारो, लुसाई, पटकोई, जयन्तिया, नागा आदि मुख्य हैं। इन्हीं पहाड़ियों को ब्रह्मा में अराकान योमा कहते हैं।[1]

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के विवरण से हिमालय के वर्त्तमान विवरण की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि पश्चिमोत्तर सीमावर्ती हिमालय-श्रृंखला (हिन्दूकुश, सुलेमान आदि) 'वेयड्ढ' पर्वत है। उस के दक्षिण-पूर्व में बृहत्तर भारत के तीन खण्ड (अविभक्त हिन्दुस्तान) हैं और शेष तीन खण्ड उत्तर-पश्चिम व उत्तरपूर्व में हैं।[2]

वसुदेवहिण्डी से ज्ञात होता है कि 'वेयड्ढ' का पूर्वोत्तर अंचल 'अराकान पर्वत माला' है। इस के साक्ष्य में चारुदत्त का यात्रा-पथ उद्धृत किया जा सकता है। वह सिन्धु सागर (प्राचीन बर्बर के बन्दरगाह) से उत्तर-पूर्व में जाता है। काशगर के हूण और खस तथा चीन को पार कर वह वेयड्ढ के पास 'शंकुपथ' से चलता है। फिर टंकण देश होता हुआ वह 'वेयड्ढ' के पार्श्ववर्ती प्रदेश—सुवर्णभूमि (बर्मा) में आता है। इस यात्रा-पथ में सुवर्णभूमि को 'वेयड्ढ-पाद' का समीपवर्ती कहा गया है—'वेयड्ढ-पायसमीवे सुवण्णभूमि-भागम्म—।'[3] इस से अराकान पर्वत-माला का वेयड्ढ होना प्रमाणित होता है।

---

१. सी० मामोरिया : भारतभूमि, पृ० ४-७

२. वसुदेवहिण्डी, पृ० १४८, १४६

३. वही, पृ० १४६

वेयड्ढ हिमालय-शृंखला के साथ सम्बद्ध है, इस की पुष्टि के लिए जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति तथा वसुदेवहिण्डी आदि में अनेक साक्ष्य मिलते हैं।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के अनुसार उत्तर वेयड्ढ सिन्धु नदी से परवर्ती है। भरत चक्रवर्ती के सेनानी सुषेण ने सिन्धु पार कर उत्तर वेयड्ढ की पार्श्ववर्ती म्लेच्छ जातियों को जीता था।[1] वेयड्ढ को सिन्धु के दक्षिणी निष्कुट (खण्ड) से उत्तर में कहा गया है।[2]

वसुदेव हिण्डी में अष्टापद को भी 'वेयड्ढ' के पाद से सम्बद्ध बतलाया गया है—'वेयड्ढपादसम्बद्धं अट्ठजोयणूसियंधरमट्ठावयं—।[3]' अष्टापद कैलाश का ही एक नाम है। यह हिमालय-शृंखला का ही एक पर्वत है। गंगा उस के पार्श्व से बही है।

गंगा और सिन्धु वेयड्ढ को भेद कर स्थल-भाग में प्रवाहित होती हैं। उन के सामीप्य का उल्लेख जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[4] और विविधतीर्थकल्प[5] में मिलता है। इन सभी साक्ष्यों से वेयड्ढ का पूर्वोत्तर अंचल अराकान पर्वत-माला और पश्चिमोत्तर अंचल हिन्दूकुश पर्वत-श्रेणी है। यही 'वेयड्ढ पर्वत' बृहत्तर भारत की विभाजन-रेखा है।

बृहत्तर भारत

हिन्दुस्तान का पुराना नाम भरतवर्ष है। इस भूखण्ड का नाम भरतवर्ष भरत चक्रवर्ती के नाम से हुआ है। इस की पुष्टि जैन-साहित्य और पुराण-साहित्य से होती है। भरतवर्ष का 'हिन्दु' नाम ईसवी पूर्व ४०० के लगभग हुआ प्रतीत होता है। यह नाम सिन्धु से परवर्ती देशों में प्रचलित था। आर्य कालक (ई० पू० दूसरी शताब्दी) ने पारसकुल में शाही लोगों से बातचीत करते हुए 'हिन्दुग देश' का प्रयोग किया था—'एहि हिन्दुगदेसं वच्चामो।'[6] किन्तु इस देश की मुख्य संज्ञा 'भरत' या 'भारत' ही थी।

---

१. 'उत्तरवेयड्ढसंसियायो मेच्छजाई।'—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ३।५२
२. 'वेताढ्य उत्तरस्यां दिशि वर्तते।'—वही, ३।५२, वृत्ति—
३. वसुदेवहिण्डी, पृ० ३०१
४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, २।३६
५. विविध तीर्थकल्प, पृ० ४०
६. निशीथ चूर्णि, भाग ३, पृ० ५६

काल की प्रलम्ब अवधि में भरतवर्ष की सीमाओं में अनेक परिवर्तन हुए हैं। उस की वर्तमान सीमा आदिकालीन सीमा से बहुत छोटी है। मध्यकालीन इतिहास में भी वह सीमा प्राप्त नहीं है, जो आदिकाल में थी। भरत ने जिस भूखण्ड पर शासन किया था, वह भरतवर्ष है। उस की सीमा इस परिभाषा से ज्ञात होती है—"हिमालय तथा पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी समुद्र का मध्यवर्ती भूखण्ड भरतवर्ष है। गंगा-सिन्धु और विजयार्ध (वेयड्ढ) के द्वारा उस के छह खण्ड हुए हैं। उस का आकार धनुष जैसा है।"[1]

"वह लघु हिमालय के दक्षिण में, समुद्र के दक्षिणी अंचल से उत्तर में, पूर्वी अंचल के पश्चिम में तथा पश्चिमी अंचल के पूर्व में है। वह पूर्व-पश्चिम में आयत तथा उत्तर-दक्षिण में विस्तीर्ण है।[2]"

अविभक्त हिन्दुस्तान की परिभाषा निम्न शब्दों में मिलती है—"एशिया महादेश के दक्षिण की ओर हिन्द महासागर में घुसे हुए त्रिभुजाकार प्रायद्वीप को भारतवर्ष कहते हैं।[3]"

प्राचीन साहित्य के सन्दर्भ में देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि अविभक्त हिन्दुस्तान की परिभाषा भरतवर्ष (बृहत्तर भारत) के दक्षिणार्ध की परिभाषा है। दक्षिणार्ध भरत को 'गिरि-सागर मर्यादक' कहा गया है। इस के उत्तर में 'वेयड्ढ' पर्वत है। वह समुद्र के दक्षिणी अंचल के उत्तर में, पूर्वी अंचल के पश्चिम में तथा पश्चिमी अंचल के पूर्व में है।[4]

बृहत्तर भारत का उत्तरार्ध लघु हिमालय के दक्षिण में और वेयड्ढ के उत्तर में है। वह पूर्वी समुद्र के पश्चिम में तथा पश्चिमी समुद्र के पूर्व में है।[5]

बृहत्तर भारत के उत्तरार्ध में कौन-कौन से देश थे, इस का पूरा विवरण प्राप्त नहीं है। किन्तु भरत-विजय के प्रसंग में कुछ देशों के नाम मिलते हैं। जैसे—

सिंहल, बर्बर (बेबीलोनिया), अंगलोय, बलायालोय (बलख), यवनद्वीप,

---

१. तत्त्वार्थ, श्रुतसागरीय वृत्ति, ३।१०
२. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, १।११
३. बी० एन० मेल्ह रोत्रा : भूगोल, पृ० ६
४. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, १।११
५. वही, १।१६

आरबक (अरब प्रदेश), रोमक, अलसण्ड (अल्लसन्द-सिकन्दरिया), पिक्खुर, कालमुख और योन (यूनान), उत्तर वेयड्ढ के पार्श्ववर्ती देश, सिन्धु नदी का पश्चिमी भाग[1] तथा आपात नामक किरात[2]—उत्तर भरत की दृष्टि से ये नाम बहुत अपर्याप्त हैं। किन्तु इस सूची से हम इस निष्कर्ष तक पहुँच जाते हैं कि प्राग्-ऐतिहासिक-काल में भारतवर्ष का क्षेत्रफल अविभक्त हिन्दुस्तान से लगभग दुगुना था। पृथक्-तृथक् राज्यों के होने पर भी क्षेत्रीय-अखण्डता अबाधित थी। आज भारतवर्ष की सीमा दक्षिणार्ध से भी कम हो चुकी है।

इतिहास-काल में भारत की पूर्वोत्तर तथा पश्चिमोत्तर सीमा के पार भारतीय सभ्यता, संस्कृति और सत्ता के साक्ष्य मिलते हैं, वे प्राग्-ऐतिहासिक-काल के अवशेष हो सकते हैं।

वर्तमान की यह स्वीकृति है कि मौर्य और गुप्त साम्राज्य-काल में अफ़गानिस्तान और गान्धार (कन्दहार और ईरान का पूर्वी भाग) भारत से सम्बद्ध थे। बर्मा, लंका, मलाया, स्याम, कम्बोडिया, अनाम, जवा, बाली, कोर्नियो से सुदूर पूर्व के देश भी भारत से सम्बद्ध थे। पूर्वी तुर्किस्तान (काशगर से चीन की सीमा तक) के दक्षिणी प्रदेश—शौलदेश (काशगर), चोक्कुक (यारकन्द), खोतम्न (खोतान), चलन्द (शानशान) तथा उत्तरी प्रदेश—कुचि (कचार) और अग्निदेश (कराशहर) आदि थे। इन में खोतम्न और कुचि भारत से सम्बद्ध थे।

यह इतिहास-कालीन सम्बद्ध सभ्यता संस्कृति और सत्ता के माध्यम से हुई है। किन्तु इस काल में क्षेत्रीय अखण्डता की भावना नहीं रही है। प्राग्-ऐतिहासिक-काल में सभ्यता आदि की पृथक्ता होने पर भी क्षेत्रीय अखण्डता की भावना रही है। इसी अर्थ में प्राग् ऐतिहासिक भरतवर्ष की सीमा अविभक्त हिन्दुस्तान से दूनी थी और उस के दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध की विभाजक रेखा वेयड्ढ पर्वत था।

■

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ३।५२
२. वही, ३।५६

हिन्दी का आत्मालोचन

हम तीन अक्षरों के विश्व में रह रहे हैं। एक लब्ध्यक्षर है, जो हमारी चेतना का ही एक परिणाम है, जिस से हमें वर्ण-ज्ञान होता है। एक व्यंजनाक्षर है जो जीव और पुद्गल का संयुक्त परिणाम है। यही हमारा उच्चारणात्मक वर्ण है। एक संज्ञाक्षर है। भाषा तभी होती है, जब वह भाष्यमाणा होती है। भाषिता भाषा नहीं होती। भाषिष्यमाणा भी भाषा नहीं होती। वह अभाषा होती है। यही हमारा वर्ण-संस्थान है, लिपि है। पहले वर्ण का विज्ञान होता है फिर उस का उच्चारण और फिर उस का अंकन। किसी भी भाषा के लिए तीन पर्याप्तियाँ अपेक्षित हैं। हिन्दी एक भाषा है। जो भाषा है वह अपनी प्रकृति का अपवाद कैसे हो सकती है? हिन्दी का अपना अंकन भी है, उच्चारण भी है और ज्ञान भी है। इस अपेक्षा से वह पर्याप्त है। किन्तु उस की पर्याप्तियाँ सवयस्क हैं, इस लिए वह अपर्याप्त भी है। जैसे क्रियमाण को कृत कहा जा सकता है, वैसे कृत को भी क्रियमाण कहा जा सकता है। हिन्दी आज उदीयमान है इस लिए वह बहुचर्चित है। जितनी चर्चित है, उतनी अर्चित नहीं। इस लिए नहीं कि उसे अभी विकास पाना है। निर्माण और विकास फिर निर्माण और विकास— इस गति से जो चलता है वही विकास का वरण कर सकता है। हिन्दी के निर्माण का उपादान बहुल मात्रा में काव्य-साहित्य है। काव्य-साहित्य भाषा के निर्माण की सुदृढ़ ईंट है पर वह एक है। काव्य-साहित्य भाषा के विकास की सफल परिणति है पर वह अपूर्ण है। निर्माण तभी सम्भव है जब ईंटें अनेक हों। विकास तभी आकार पाता है, जब परिणतियाँ विविध हों। निर्माण और विकास का एक चक्र पूर्ण हुआ है अब दूसरे चक्र में फिर वही क्रम अपेक्षित है। हिन्दी इस लिए कहीं-कहीं उपेक्षित होती है कि वह अपर्याप्त है। उस के अंगोपांग अपूर्ण हैं। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की अभिव्यक्ति के लिए उस में

शब्द-सामग्री का चयन अविकल नहीं है। यह विरोध उस की गति का सूचक है। कुछ लोग इस सिद्धि के प्रयत्न में हैं कि वह सांगोपांग है। यह समर्थन गतिसूचक नहीं है। यह मान कर चलना चाहिए कि उस में सांगोपांग विकास की अर्हता है। उपादान विकल नहीं है पर अभी निमित्तों का साकल्य भी नहीं है। इन चालीस-पचास वर्षों में हिन्दी का जो विकास हुआ है, वह बहुमुखी हुआ है, शतमुखी नहीं। जो शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं वे अधिकांशतः काव्य साहित्य की परिधि में लिखे गये हैं। दर्शन, धर्म, संस्कृति व इतिहास के विषय में लिखे गये हैं। एक विषय के परिपार्श्व में अनेक लिखे गये हैं। अब जब शब्द-सम्पदा की अभिवृद्धि का प्रश्न प्रधान बना है तब शब्द-चयन का कार्य आगे बढ़ा है। इस दिशा में जो परिवर्तन हुआ है, वह हमारी मान्यता में अपूर्ण है।

शब्द-संकलन कर्त्ताओं ने प्राचीन साहित्य का मन्थन किया है, पर यथेष्ट नहीं। जैन-साहित्य का स्पर्श लगभग नहीं किया है। यदि ऐसा किया जाता तो वैज्ञानिक शब्द-संग्रह की बहुत सारी समस्याएँ सहज ही समाहित हो जातीं। दूसरी अपूर्णता इस दिशा में है कि हिन्दी में न कोई निरुक्तकार हैं और न कोई निरुक्त की प्रक्रिया ही है। इन के अभाव में यौगिक शब्दों का ऐसा कलेवर बना है जो बहुत बार उपहास की सामग्री बन जाता है। नव-निर्माण ही जब करना है तो केवल यौगिक शब्दों की घटना क्यों? क्या आज शब्दों में व्युत्पन्न होने की क्षमता नहीं है जब कि उन की धातुओं में व्युत्पादन की बीज-शक्ति विद्यमान है? हिन्दी प्राकृत परिवार का विकास है। उस के विकास में अनेक भाषाओं का योगदान है। फिर उस की समृद्धि कैसे चिन्त्य हो सकती है? हिन्दुस्तान की अधिकांश भाषाओं का स्रोत वही है, जो हिन्दी का है। बंगाली भाषा का मूल अपभ्रंश है। महाराष्ट्री, गुजराती आदि भी प्राकृत-मूलक हैं। पंजाबी भी इसी कोटि में आती है। राजस्थानी को अभी भाषा होने का श्रेय नहीं मिला है। उस के सौभाग्य की कमी है अन्यथा वह भी इसी श्रेणी में होती। ये सभी छोटी-बड़ी बहनें हैं। इन का अपना-अपना अधिकार-क्षेत्र है, अपनी-अपनी मर्यादा है। हिन्दुस्तान एक प्रान्त नहीं है, वह अनेक प्रान्तों का समुदाय है। इस एकता में जो अनेकता है वह उपयोगिता है। उस की फल परिणति उसी स्थिति में सम्भव है, जब कि उस में, अनेकता में एकता हो। उस एकसूत्रता का सर्वाधिक

प्राथमिकता पाने वाला माध्यम है एक भाषा। वह आसन हिन्दी को मिला है। यह टीका आखिर किसी एक के भाल पर निकलता ही।

हिन्दी अब केवल बिहार, उत्तरप्रदेश, आदि प्रान्तों की भाषा नहीं है, वह समूचे राष्ट्र की भाषा है। उस का विकास भी राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा है। मानना यह चाहिए कि सब के सहयोग से हो रहा है। हिन्दी-भाषियों का इस क्षेत्र में अधिक दायित्व नहीं है और अहिन्दी-भाषियों का कम नहीं है। सब का सम है। इस स्थिति में कोई एक विरोध करे और कोई एक समर्थन—यह अविवेकपूर्ण स्थिति है। विवेक सम रेखा को स्थिति में है। हिन्दी विकासमान है, इस लिए वर्तमान हिन्दी-भाषी विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं से इतना लें कि हिन्दी की समृद्धि बढ़े और उन से उस की दूरी घटे। सब को प्रतीत होने लगे कि सब के सह-प्रयत्न से सर्वसम्मत एक भाषा का निर्माण हो रहा है, विकास हो रहा है। हिन्दी-भाषियों को एक बार कठिनाई की अनुभूति होगी। अहिन्दी-भाषियों की भाँति उन्हें भी अपने भाषा-ज्ञान में परिमार्जन करना होगा। परिणामत: कठिनाई की समस्थिति में सब समयोगी होंगे।

आज समूचे राष्ट्र के सामने ये प्रश्न पुनश्चिन्त्य हैं—

१. हिन्दी का स्वरूप क्या है? क्या होना चाहिए?
२. उस का स्वामित्व कहाँ है? कहाँ और होना चाहिए?
३. उस के अस्तित्व और विकास के साधन कौन-कौन से हैं?
४. उस का क्षेत्र-विस्तार कितना है?
५. उस के प्रकार कितने हैं?
६. उस की सत्ता कब से है?

१. भाषा की स्वरूप-निश्चिति व्याकरण से नहीं होती। उस का प्रमुख साधन है प्रयुक्ति। आज तक जो श्रेष्ठ कवि हुए हैं, उन्होंने जो प्रयोग किये हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए हिन्दी के स्वरूप का पुनर्विनिश्चय किया जा सकता है। अन्यान्य समानधर्मा भाषाओं के विशिष्ट अर्थ-सूचक प्रयोगों को समन्वित करना भी उस के स्वरूप विनिश्चिति का एक महत्त्वपूर्ण कार्य होगा।

२. हिन्दी का स्वामित्व अभी बहुत छोटी और अल्प विषयक साहित्य-राशि

पर है। क्या इस का विस्तार नहीं किया जा सकता ? आधुनिक साहित्य के द्वारा भी वह विस्तृत हो सकता है। थोड़ी-सी उदारता की अपेक्षा है। हिन्दी की प्राचीन धारा में अवधी, ब्रज, राजस्थानी आदि के अमुक-अमुक ग्रन्थ सम्मिलित किये गये हैं, अमुक-अमुक नहीं, इस का हेतु स्वयं में अस्पष्ट है। इस विभाजन के पीछे कोई प्रबल युक्ति लभ्य नहीं है। इन सभी भाषाओं में हिन्दी के बीज मान लिये जायें और इन की विपुल साहित्य-राशि को प्राचीन हिन्दी-साहित्य की मान्यता दी जाये तो उस की परिधि बहुत विशाल हो जाती है और उस के आदिकालीन व मध्यकालीन इतिहास का काया पलट हो जाता है। हिन्दी के गद्य की शृंखला बहुत दूर चली जाती है।

३. भाषा का अस्तित्व कालक्रम से प्राप्त होता है। काल-परिणति के साथ-साथ भाषा की परिणति होती है। उस का एक ही स्रोत विभिन्न देश-काल व परिस्थितियों का योग पा विविध रूपी बन जाता है। विकास के निमित्त बनते हैं—मनुष्यों के कर्म और मानस। मानस विकसित होता है, कर्म विकसित होते हैं। भाषा विकास पा लेती है। पशुओं की भाषा इसी लिए सीमित है कि उन की चिन्ता सीमित है, प्रवृत्तियाँ सीमित हैं। आज मनोविज्ञान और पौद्गलिक विज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विस्तार असीम होता चला जा रहा है इस लिए प्रत्येक विकासशील भाषा को अपने सीमा-बन्धन तोड़ने होंगे। साधनों का विकास करना होगा। सर्वोत्तम साधन है निरुक्त प्रक्रिया का स्वीकार। उस स्वीकृति में अनेक समस्याओं का समाधान है।

४. यह प्रश्न दूसरे प्रश्न से सम्बन्धित है। स्वामित्व-विस्तार के साथ-साथ क्षेत्र-विस्तार होता है। केवल क्षेत्र-विस्तार से किसी भी भाषा के प्रति ममता की पुष्टि नहीं होती। वह स्वामित्व के साथ ही होती है।

५. प्रक्रम एक तो कालकृत होता है और एक रूपापादित। हिन्दी के कालकृत प्रकार हैं। उस के रूपापादित प्रकार नहीं हैं। एकसूत्रता के लिए एकरूपता आवश्यक है। फिर भी रूपापादित प्रकार सर्वथा अनावश्यक नहीं है। विकास के लिए यह निष्प्रयोजन नहीं है कि क्षेत्र-परिवर्तन के साथ-साथ मूल स्वरूप में अबाधक रूप-परिवर्तन की स्वतन्त्रता लब्ध हो। उच्चारण-भेद जैसे

क्षेत्रकृत होता है, वैसे ही रुचिभेद भी क्षेत्रकृत होता है। रुचि के अनुसार शब्द-चयन की स्वतन्त्रता हो तो भाषा को अभिव्यक्ति सहज क्षमता प्राप्त कर लेती है। संस्कृत में रूप-भेद नहीं हुआ, यह नहीं माना जा सकता। जैनाचार्यों ने मध्यकाल में एक नयी परम्परा के जो बीज बोये, उन्हें अंकुरित होने का पूरा अवसर मिलता और शेष संस्कृतज्ञ भी उस के प्रस्फुटन में अपना पूरा योग देते तो संस्कृत भाषा निःश्रीक नहीं होती, भूत नहीं होती। चूर्णियों की जो भाषा है, वह संस्कृत-प्राकृत मिश्रित है। उस में व्यंजना बहुत प्रबल हुई है। संस्कृत-शब्द-सम्पदा की वृद्धि और नयी-नयी भावनाओं के संकलन का यह एक बहुग्राही प्रकार था। किन्तु इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। परिणाम वही हुआ, जो होना था।

६. सत्ता का प्रश्न विभज्य है। भाषा जब नया रूप लेती है, तब उस के उपादानों की शोध होती है। बंगाली का अस्तित्व दसवीं शताब्दी में उदय में आया तो हिन्दी का अस्तित्व भी एक-दो शताब्दी के बाद उदयमान बना। उस समय अपभ्रंश करवट ले रही थी। उस की प्रसुप्ति में नयी-नयी भाषाएँ जागृति पा रही थीं। इसी विषय की पुष्टि करने वाले अपभ्रंश और हिन्दी के संक्रान्ति-कालीन ग्रन्थ हमारी गवेषणा के विषय हैं।

जो शोध-प्रबन्ध लिखे जा रहे हैं उन की मौलिकता का मानदण्ड और अधिक प्रलम्ब हो, यह और अभिलषणीय है। जो नव-निर्माण हो रहा है वह केवल अतीत की छाया-मात्र न हो, मौलिक हो, यह भी उतना ही काम्य है। शोध और निर्माण—ये दोनों आवश्यक कार्य हैं। आज हिन्दी को एक-दो पाणिनि, एक-दो हेमचन्द्र, एक-दो धर्मकीर्ति और अकलंक तथा एक दो राइसडेविड दम्पति की अपेक्षा है।

■

अतीत के आलोक में हिन्दी की समृद्धि

जीवन के आदि क्षणों में छह पर्याप्तियाँ उपलब्ध होती हैं। उन में अन्तिम दो हैं—भाषा-पर्याप्ति और मनःपर्याप्ति। हमारा सारा कर्म-चक्र इन्हीं के बल पर चलता है। हम बोलते हैं और चिन्तन करते हैं इसी लिए हम अणु युग तक पहुँच पाये हैं। लगता है, भाषा और मन दो हैं, पर निश्चय-नय में वे दो नहीं हैं। चिन्तन का बाह्य रूप भाषा है और भाषा का आन्तरिक रूप चिन्तन है। जीवशास्त्र के अनुसार ऐसे जीव नहीं होते जिन में चिन्तन का विकास हो और भाषा न हो। भाषा के माध्यम के बिना चिन्तन का विकास नहीं होता और चिन्तन के विकास के बिना भाषा का विकास नहीं होता। इस प्रकार दोनों संश्लिष्ट हैं। हिन्दी के विकास के लिए यह अपेक्षित है कि हिन्दी-भाषियों का चिन्तन विकासशील हो, ज्ञान गम्भीर हो, अतीत के अनुसन्धान और वर्त्तमान के स्पर्श में क्षम हो। जिन मे भावों को भाषा का परिधान देने की क्षमता हो, उन में शब्दों की उत्पत्ति का परिज्ञान भी होना चाहिए। आज के अनेक हिन्दी-लेखक पर्याय शब्दों के प्रयोग में सफल नहीं हैं। यह साहित्य की चर्चा है पर भाषा से भी भिन्न नहीं है। अच्छे-अच्छे लेखक भी ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिन्हें देख कर आश्चर्य होता है। अशुद्ध प्रयोग भी चलते हैं। 'परिणत' को 'परिणित' लिखना तो आज साधारण हो गया है। 'राष्ट्रिय' शब्द को मैं ह्रस्व इकार में लिखता पर जब वह प्रकाशित हो कर आता तो 'राष्ट्रीय' बन कर आता। सम्भवतः प्रकाशक इस लिए उसे बदल देते हैं कि वह शुद्ध नहीं है। 'राष्ट्रिय' शब्द देश्य नहीं है। संस्कृत में वह ह्रस्व इकार वाला ही होता है। नव-निर्माण में हमने अवश्य ही गति की है पर अतीत से हमारा सम्पर्क कम है। इस लिए कुछ खामियाँ रह जाती हैं। 'सक्षम' शब्द जितना क्षमा-सहित के अर्थ में उपयुक्त है उतना समर्थ के अर्थ में नहीं। फिर भी आज कल समर्थ के अर्थ

म 'सक्षम' अधिक प्रयुक्त होता है, जब कि उस के अर्थ में 'क्षम' शब्द स्वयं व्युत्पन्न है।

अतीत के सम्पर्क की एक छोटी-सी कहानी है। आचार्य श्री तुलसी के निर्देशानुसार हम लोग जैन आगम शब्दकोश का कार्य कर रहे थे। उस समय हमारे सामने 'ऊरु' शब्द था। हम ने सोचा इस का हिन्दी पर्याय क्या दिया जाये? हिन्दी शब्दकोश उठाया तो उस में 'ऊरु' का अर्थ मिला—जाँघ, रान। फिर जंघा शब्द को देखा तो उस का अर्थ मिला—जाँघ, पिण्डली। पिण्डली का अर्थ मिला—टाँग का पीछे की ओर का मांसल भाग। फिर संस्कृत शब्दकोश देखा तो 'ऊरु' और 'जंघा' का अर्थ भिन्न पाया। ''शक्थि' और 'ऊरु' जानु के ऊपरी भाग के नाम हैं। 'जंघा' और 'पिण्डिका' जानु के निचले भाग के नाम हैं। कवच-स्तोत्रों से यह प्रमाणित भी हो गया। मन्त्र-साधना के समय साधक अपनी सुरक्षा के लिए कवच-स्तोत्र पढ़ते थे। उन में समूचे शरीर की रक्षा का विधान होता था। एक जैन रक्षा-स्तोत्र—

"मल्लिः कटी सक्थिनी च, रक्षतान् मुनि सुव्रतः।
नमिर्जानुद्वयं पायात्, नेमिर्जङ्घाद्वयं पुनः॥"

सर्वांग सुरक्षा का प्रकरण सिर से चलता है और पैरों तक पहुँच जाता है। वहाँ क्रमशः आया है—"मल्लि भगवान् मेरे कटि प्रदेशों की रक्षा करें। मुनि सुव्रत मेरे सक्थि-प्रदेशों की रक्षा करें। नमि भगवान् मेरे जानु—घुटनों की रक्षा करें और नेमि भगवान् मेरी जंघाओं की रक्षा करें।" इस क्रम में सक्थि (ऊरु) के पश्चात् जानु और जानु के पश्चात् जंघा का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि सक्थि या ऊरु जानु के ऊपरी भाग का नाम है और जंघा का उस के निचले भाग का। फिर उस के लिए हिन्दी-पर्याय ढूँढ़ा तो कोई शब्द नहीं मिला। फिर हम ने राजस्थानी शब्दकोश को काम में लिया। उसमें जंघा के लिए जाँघ और ऊरु के लिए साथल शब्द है जो सक्थि का ही अपभ्रंश रूप है। सार्थिक और सक्थिक—इन दोनों का प्राकृत रूप 'सत्थिय' बनता है—सत्थिय = सत्थल्ल = साथल।

इसी प्रकार दूसरा शब्द हिन्दू है। हिन्दू शब्द फ़ारसी माना जाता है। सिन्धु का उच्चारण हिन्दू हुआ ऐसा अभिमत है। पर यह भारतीय क्यों नहीं हो

सकता ? जैन आगम भगवती सूत्र (२०।२) में जीव के तेईस नाम बतलाये गये हैं। उन में एक नाम है हिण्डुअ'। जीव संसार में पर्यटन करता है, इस लिए उसे 'हिण्डुअ' कहा जाता है। हिन्दू अर्थात् पर्यटक। आर्य लोग भारत में आये। उन का पर्यटन-परक नाम ही प्रधान बन गया और धीमे-धीमे वह शब्द समूची जाति और देश का वाचक बन गया।

हिन्दी की समृद्धि के लिए अतीत का आलोक बहुत अपेक्षित है। वामन ने अपने काव्यालंकार सूत्र (५।१।१३) में लिखा है—"जो देशी शब्द बहुत व्यापृत हों, उसे संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त किया जा सकता है।" ऐसा ही उदार दृष्टिकोण आज चाहिए। दर्शन-शास्त्र व अन्यान्य शास्त्रों में एक-एक विषय की समृद्ध शब्दसूची मिलती है। दार्शनिक व अन्यान्य शास्त्रवित् उसे जन-सुलभ बनायें तो एकात्मकता और विकास—दोनों का द्वार खुल जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने देशीनाममाला बनायी। उस का उद्देश्य यही था कि विभिन्न देशों के व्याकरण-सिद्ध प्रमुख शब्दों का संग्रह किया जाये। देशी शब्द की व्याख्या भी यही की है—

"देसविसेसपसिद्धीइ, भण्णमाणा अणंतया हुंति।
तम्हा अणाइ पाइआ, पयइभासा विसेसओ देसी॥"

आज हिन्दी को भी सम्भवतः ऐसे शब्दकोश की अपेक्षा है। अभी-अभी एक सर्वभाषा कोश प्रकाशित हुआ है। परन्तु वह भिन्न उद्देश्य की पूर्त्ति करता है। उस से शब्दों की तुलनात्मक जानकारी मिल सकती है पर हिन्दी की समृद्धि में विशेष योग नहीं मिल सकता। हिन्दी को ऐसे शब्दकोश की अपेक्षा है जिस में प्राचीन साहित्य और प्रान्तीय भाषाओं के उन शब्दों का संग्रह हो जिन की तुलना करने वाले शब्द अभी हिन्दी में प्रयुक्त नहीं हैं तथा जिन के अभाव में उस की वाचक-शक्ति अभी अपूर्ण है।

जीव-विज्ञान, पुद्गल या परमाणु-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, मनोविज्ञान, भूगर्भ, रसायन-शास्त्र, वास्तुकला आदि विभिन्न शाखाओं की पर्याप्त शब्द-सम्पदा होने पर ही हिन्दी आदान-प्रदान का माध्यम बन सकती है। आज तो हिन्दी के शब्दकोशों में 'पोतज' जैसा साधारण शब्द नहीं मिलता है। जीव-विज्ञान के विद्यार्थी को इस से कितनी निराशा होती है। जीव-शास्त्र के अनुसार जन्म की

विविध प्रक्रियाएँ हैं। उन में एक प्रक्रिया का नाम 'पोतज' है। जो जीव न अण्डे से उत्पन्न होते हैं और न जरायु-वेष्टित भो, वे 'पोतज' कहलाते हैं। ह्वेल आदि मछलियाँ अण्डज नहीं होतीं। वे सीधो बच्चे के रूप में ही उत्पन्न होती हैं। हिन्दी में उन्हें 'पोतज-मत्स्य' कहा जा सकता है।

भारत में पहले 'कुत्रिकापण' नाम की दूकानें होती थीं। उन में तीन पृथ्वियों में प्राप्य सर्व-वस्तुओं का संग्रह होता था। सम्राट् श्रेणिक के समय राजगृह में 'कुत्रिकापण' था। उसी समय चण्डप्रद्योत की राजधानी उज्जयिनी में नौ 'कुत्रिकापण' थे। यह जनरल स्टोर्स का पर्याय शब्द है। इस का प्राकृत रूप 'कुत्तियावण' है। इसी प्रकार विविध वाणिज्यों के संग्राहक शब्द भी बहुत उपयोगी हैं। उदाहरण रूप में —

अंगार-कर्म : कोयले बनाने, कुम्हार, लोहार, सुनार, भड़भूंजे, ईंट पकाने, चूना बनाने आदि का व्यापार। वन-कर्म : पत्र, पुष्प, फल, काष्ठ, लकड़ी, धान्य आदि वस्तुओं को बेच कर वृत्ति चलाना। स्फोट-कर्म : जलाशय निर्माण, वाहन-परिचालन, वाहन-विक्रय आदि। भाटक-कर्म : अपने वाहनों से भाड़ा कमाना, मकान भाड़े देना आदि।

ये ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं, जिन से न केवल हिन्दी की शाब्दिक समृद्धि ही होती है, किन्तु प्राचीन भारत के जीवन-क्रम का परिचय भी मिलता है। इन के आधार पर नये शब्दों की योजना भी सहज हो जाती है। बिजली के उत्पादन और वितरण को 'विद्युत्कर्म' कहा जा सकता है। बिजली घर में जो अर्थाभि-व्यक्ति नहीं है, वह 'विद्युत्कर्मान्त' में है।

हिन्दी के शब्दकोशों में 'एक प्रकार का पौधा,' 'एक प्रकार का जन्तु', 'एक प्रकार का आसन'—यह पद्धति नहीं होनी चाहिए या अत्यल्प हो। इस के लिए अन्वेषण स्वयं प्राप्त होता है। वैदिक और बौद्ध साहित्य के शब्द तो फिर भी कुछ प्रचलित बने हैं किन्तु जैन-साहित्य लगभग अस्पृष्ट-सा रहा है। उस में जीव-विज्ञान, पुद्गल-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विभिन्न शाखाओं की अकल्पित शब्द-सामग्री भरी पड़ी है। शब्दकोश या वर्गीय शब्दकोश बनाने वालों को इस विषय से अपरिचित नहीं रहना चाहिए। हम अतीत के सम्पर्क से बहुत लाभा-न्वित हो सकते हैं।

■ ■